आत्म-रहस्य

रतनलाल जैन

सौ० श्री मोतीदेवी सरावगी
(धर्मपत्नी श्री धर्मचंद सरावगी)
द्वारा
अतिशय क्षेत्र महावीरजी के
श्री महावीर दि० जैन वाचनालय
को
सादर भेंट

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

आत्म-रहस्य

[आत्मा, सत्य और दर्शन-मीमांसा]

लेखक

श्री रतनलाल जैन

सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

यह पुस्तक

मैं 'आत्मरहस्य' को पढ़ गया। इसमें लेखकने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि न केवल विभिन्न धर्म और दर्शन, प्रत्युत आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान भी सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा का प्रतिपादन करते हैं। विभिन्न विचारकों के दृष्टिकोण विभिन्न हैं। यह भेद कुछ तो विचारकों के रुचि-भेदके कारण उत्पन्न हुआ है, कुछ देशकालगत परिस्थितियों ने उनको इस बात के लिए विवश किया कि पदार्थ के पृथक-पृथक पहलुओं को अधिक महत्त्व दें। इस नयभेद के कारण पदार्थ के वर्णन में वैषम्य का पाया जाना स्वाभाविक है, परन्तु यदि वैषम्य के कारण को ध्यान में रख कर निष्पक्ष तर्क से काम लिया जाय तो विभिन्न मतों का समन्वय करके आत्मा के स्वरूप का परिचय मिल सकता है। आत्मा के स्वरूप के साथ-साथ जगत् के स्वरूप, कर्मफल की प्राप्ति-अप्राप्ति आदि कठिन समस्याओं की ग्रंथियाँ भी खुल सकती हैं। रतनलालजी ने ग्रंथियों को खोला भी है। वह जिस परिणाम पर पहुँचे हैं, वह बहुत दूर तक तो, बार्हस्पत्य विचारधारा को छोड़कर, सभी भारतीय दर्शनों की समान भूमिका और सम्पत्ति है। इसके आगे उनके विचार उन विशेष तथ्यों की ओर झुके हैं, जिनका प्रतिपादन जैन आचार्यों ने किया है।

....जहाँ तक पुस्तक का उद्देश्य यह प्रतिष्ठापित करना है कि आत्मतत्त्व विचारणीय है, हमको जगत् के भौतिक स्वरूप-मात्र को इतिश्री न मान लेना चाहिए, विचार में असहिष्णु होकर इदमित्यमेव न मानकर विभिन्न पहलुओं को देखकर संतुलन करना चाहिए, आत्म-स्वरूप को पहचानने के लिए मनन के साथ-साथ त्याग, तप, समाधि की आवश्यकता है, वहाँ तक मैं रतनलालजी को उनकी सफलता पर बधाई देता हूँ। प्राच्य और पाश्चात्य विचारों का एक ही जगह अच्छा संग्रह हुआ है और यह संग्रह बुद्धि को अंकुश देकर सोचने के लिए विवश करता है।

—सम्पूर्णानंद

वैशाख शु० १, २००५ | शिक्षा-मंत्री, संयुक्तप्रांतीय सरकार

प्राक्कथन

दीर्घकालीन पराधीनता के पश्चात् भारत स्वतंत्र हुआ है। आज हम उसके उज्ज्वल भविष्य की ओर दृष्टि लगाये हुए हैं। भारतमाता का प्रत्येक सपूत उसकी आर्थिक, राजनैतिक आदि उन्नतिकी योजना बनाने व कार्यान्वित करनेमें संलग्न है। सैनिक शिक्षा अनिवार्य करके समस्त देश के शस्त्रीकरण में ही कुछ सज्जनों को भारत का कल्याण दीखता है। कुछ को भारत में बड़े-बड़े कारखाने खोलकर उत्पादन बढ़ाने में ही भारत की भलाई प्रतीत होती है। और कुछ पाश्चात्य देशों के समाजवाद में ही भारत का हित समझते हैं।

मेरी धारणा है कि जबतक हमारी उन्नति का आधार अध्यात्मवाद या वैज्ञानिक धर्म नहीं होगा तबतक मानव-समाज का वास्तविक कल्याण नहीं हो सकेगा तथा एक के बाद दूसरे महा भयंकर युद्ध उपस्थित होकर इस संसार को काल कराल के मुंह में झोंकते रहेंगे। आज भी संसार तीसरे महायुद्ध की ओर बड़े वेग के साथ दौड़ रहा है। मेरी भावना है कि अध्यात्मवाद को आधार मान कर भारत की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सैनिक आदि समस्त क्षेत्रों में इतनी उन्नति की जाए कि कोई भी राष्ट्र उसको बुरी दृष्टि से देखने का साहस न कर सके तथा भारत संसार को अहिंसा व प्रेम का पाठ सिखाकर उसका आध्यात्मिक नेतृत्व कर सके।

महात्मा गांधी द्वारा संचालित सत्याग्रहों में भाग लेने के कारण मुझे अनेक बार कारावास में कितने ही समय तक रहना पड़ा है, जहां अध्ययन, मनन व लिखने के स्वर्ण अवसर प्राप्त हुए हैं। सन् १९३० व

१९३२ के सत्याग्रहों के समय में इस पुस्तक को लिखा था। साथी विद्वानों ने पढ़कर कितने ही सुझाव दिये जिनके अनुसार इस पुस्तक में संशोधन कर दिये गये। सन् १९३२ के कारावास के पश्चात् इस पुस्तक को स्वर्गीय ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी व श्री नाथूरामजी 'प्रेमी' ने पढ़कर उचित परामर्श दिये। उनके परामर्शानुसार संशोधन करके पुस्तक को अधिक सुंदर बनाया गया। लेकिन सार्वजनिक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण पुस्तक में संशोधन करके शीघ्र ही प्रेस में भेज न सका।

सन् १९४० व १९४२ के स्वतंत्रता आंदोलनों में फिर कारावास में जाना पड़ा वहाँ पुस्तक को वर्तमान रूप दिया। साथी रघुनन्दन स्वामी ने इसकी भाषा को परिमार्जित किया है। जिन उपरोक्त तथा अन्य विद्वान साथियों ने इस पुस्तक को आधुनिक रूप देने में सहायता दी है उनका मैं आभारी हूं। कारावास से १९४४ में बाहर आने पर देश की विषम परिस्थिति तथा कागज की महंगाई, दुर्लभता व मुद्रण की पाबन्दी ने इस पुस्तक के प्रकाशन में और देर लगाई। भाई राजेन्द्रकुमार जी ने इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस में मुद्रण कराके तथा सस्ता साहित्य मंडल ने प्रकाशक बनकर पुस्तक को जनता तक पहुंचाने में सहायता दी है, अतः उनका भी आभारी हूं।

मेरी धारणा है कि वर्तमान प्रचलित धर्मों के अन्तर्गत अध्यात्मवाद एकसा ही है। मनुष्य जैसे भिन्न प्रकार के वस्त्र धारण करके अनेक प्रकार का दिखलाई देता है ऐसे ही यह अध्यात्मवाद भिन्न-भिन्न देशों की भिन्न-भिन्न परिस्थिति के कारण भिन्न-भिन्न धर्मों के रूप में दिखलाई देता है। यदि कोई व्यक्ति वस्त्रों से परिछिन्न मनुष्य को देखकर वस्त्र को ही मनुष्य समझ ले, वस्त्र से ढके हुए मनुष्य को मनुष्य न समझे तो यह उसकी भूल ही माननी होगी। ठीक यही दशा आज धर्मवादियों की हो रही है। अध्यात्मवादको अपने अन्दर छिपाये हुए क्रियाकांड व रीति-रिवाज को ये धर्म समझते हैं, उनसे परिछिन्न अध्यात्मवाद को

नहीं पहिचानते। यह भ्रम ही समस्त प्रकार की भूल व त्रुटियों का कारण है।

यदि इस पुस्तक के अध्ययन से पाठकों के हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उनकी रुचि अध्यात्मवाद की ओर आकर्षित हुई तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा।

बिजनौर]

—रतनलाल जैन

विषय-सूची

प्रथम भाग

आत्म अनुसंधान

पृष्ठ

द्वितीय भाग

सत्य मार्ग (चिदानंद प्राप्ति मार्ग)

तृतीय भाग

समन्वय या एकीकरण

प्रथम भाग

आत्म अनुसंधान

१—विज्ञान युग

प्रत्येक मनुष्य सुख की कामना करता है, उसकी तलाश में घूमता है। जिह्वा इन्द्रिय की तृप्ति के लिये अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन करता है। नेत्र व कर्ण इन्द्रिय की प्यास बुझाने के लिये नाच गाना थ्येटर सिनेमा आदि में जाता है। घ्राण इन्द्रिय को संतुष्ट करने के लिये इत्र तेल आदि सुगंधित पदार्थों का सेवन करता है, एवं नाना प्रकार के भोग विलास में लिप्त होता है। धन को सुख का साधन समझकर उसकी प्राप्ति के लिये जुटता है। अनेक प्रकार के व्यवसाय करता है।

परन्तु इन इन्द्रिय सुखों से उसकी तृप्ति नहीं होती। जितना अधिक सेवन इनका किया जाता है उतनी ही अधिक वासना प्रज्वलित होती जाती है। इस वासना का कभी भी अन्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय सुख अस्थिर है; जब तक इनके भोग उपभोग में लगा रहता है तब-तक ही उनके स्वाद का आनन्द आता है; ज्योंही इन्द्रिय सुख का सेवन बन्द किया, त्योंही उसका आनन्द भी समाप्त हो गया; केवल तृष्णा (चाह) शेष रह जाती है। इस प्रकार यह इन्द्रिय सुख, अस्थिर, क्षणभंगुर एवं दुख रूप है।

अनेक प्रयत्न करने पर भी जब सुख उसको नहीं मिलता, उसकी इच्छा स्वभावत: सुख के स्वरूप जानने की होती है। सुख के स्वरूप जानने की उत्कंठा के साथ साथ, उसके हृदय में अनेक प्रश्न उठने लगते हैं जैसे कि "मैं कौन हूं", "कहां से आया हूं", "मेरा 'वास्तविक' स्वरूप क्या है", "इस जीवन का उद्देश्य क्या है" आदि आदि।

इन प्रश्नों के समाधान के लिये, उसका ध्यान सहज ही अपने पूर्वज महान ऋषियों की कृति की ओर जाता है, उनके रचित धार्मिक ग्रंथों

के अध्ययन में लगता है। भिन्न भिन्न धार्मिक ग्रंथों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि भिन्न भिन्न आचार्यों ने उपरोक्त प्रश्नों का समाधान भिन्न भिन्न प्रकार से किया है; कहीं कहीं इनका समाधान परस्पर विरोधी है। भिन्न भिन्न प्रकार के उत्तरों को पढ़कर उसका हृदय और भी उलझन में पड़ जाता है। उसकी समझ में नहीं आता कि वह किसके कथन को सत्य माने और किसके को असत्य।

इसके अतिरिक्त इन धार्मिक ग्रंथों में जिस शैली का अनुकरण किया गया है उससे हृदय को संतोष नहीं होता। इनकी शैली वैज्ञानिक पद्धति से मेल नहीं खाती। यह युग विज्ञान का है। मनुष्य की बुद्धि तीव्र एवं सूक्ष्म आलोचिका हो गई है, वह किसी बात को भी बिना अनुसन्धान व अन्वेषण किये मानने को तय्यार नहीं।

कुछ धार्मिक ग्रंथों में तो ऐसा मान लिया गया है कि अमुक अवतार, पैगम्बर या महर्षि ने ऐसा कहा है, इसलिये यह मान्य है, किसी को यह अधिकार नहीं कि उसकी आलोचना करे। किसी किसी ग्रंथ में तर्क से भी काम लिया गया है, परन्तु इस तर्क से भी सन्तोष नहीं होता। ऐसी दशा में मनुष्य बड़ी उलझन में पड़ जाता है और उसकी बुद्धि कुछ भी काम नहीं देती। निराश होकर वह अपने मन को उपरोक्त प्रश्नों के समाधान से हटाता है। उसे प्रतीत होने लगता है कि इन प्रश्नों के समाधान में लगना निरी मूर्खता है। उसका मन धार्मिक कामों से हट जाता है। उनको लोक-अपवाद के भय से करता है, परन्तु उनमें उसका मन तनिक भी नहीं लगता। ऐसी परिस्थिति में वह नास्तिकता की ओर शीघ्रता से बढ़ता है, विवश हो सांसारिक एवं गृहस्थ के कार्यों में व्यस्त होता है।

अतः इस पुस्तक में किसी अवतार, पैगम्बर, देव या महर्षि द्वारा कथित शास्त्र को आधार नहीं माना है। प्रत्येक प्रश्न का समाधान वैज्ञानिक ढंग पर किया गया है। पहिले भाग में अनुसन्धान द्वारा यह निश्चय किया गया है कि मनुष्य शरीर के भीतर एक अदृश्य पदार्थ और है, जिसको

आत्मा के नाम से पुकारा जा सकता है; उस आत्मा का वास्तविक स्वरूप चिदानन्दमयी है। यह भी निश्चय किया गया है कि यह आत्मा संसार में क्यों भ्रमण कर रहा है। दूसरे भाग में उस सत्य मार्ग का विवेचन किया गया है कि जिस पर चलकर आत्मा अपने वास्तविक चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त करके आनन्द का उपभोग अनन्त काल तक कर सकता है। तृतीय अर्थात् अन्तिम भाग में यह दिखलाया गया है कि वर्तमान प्रत्येक धर्म व दर्शन में बहुत कुछ सत्य है, जो अन्तर इन धर्म व दर्शनों में दिखलाई देता है, वह भिन्न भिन्न आचार्यों के द्वारा आत्मा के भिन्न भिन्न गुण व अवस्थाओं का भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से निरूपण द्वारा उत्पन्न हुआ है।' अन्त में वर्तमान मुख्य दस धर्म व दर्शनों का समन्वय किया गया है।

२—पदार्थ की दो श्रेणी

(१) आत्मा व भौतिक पदार्थ

संसार के पदार्थों पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि जगत के समस्त पदार्थों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :—पहिली श्रेणी में उन समस्त जीवित पदार्थ या जीवों को रख सकते हैं, जिनमें नेत्र के द्वारा संसार की भिन्न भिन्न वस्तुओं के देखने, कर्ण के द्वारा दूसरों की बातें, गाना आदि सुनने की शक्ति है; जो वस्तुओं को पहचान एवं उनके भले बुरे होने पर विचार कर सकते हैं; जो सुख दुख को अनुभव करते हैं; जिनमें काम क्रोध आदि भावनाएं, इच्छा द्वेष आदि वासनाएं पाई जाती हैं; जो पिछली बातों का स्मरण रख सकते हैं और जिनमें संकल्प शक्ति पाई जाती है। इस श्रेणी में मनुष्य, गाय, बैल, आदि पशु, कोयल, तोता, आदि पक्षी, मगर, मच्छ आदि जलचर आते हैं।

दूसरी श्रेणी में इस जगत के वे समस्त भौतिक पदार्थ आते हैं, जिनको हाथ से स्पर्श, नेत्र से अवलोकन या कान से श्रवण किया जाता है, जिनमें खट्टा, मीठा, कड़वा आदि किसी न किसी प्रकार का स्वाद है, जिनसे किसी न किसी प्रकार की सुगन्ध या दुर्गन्ध आती है, परन्तु उनमें न पदार्थों के देखने, शब्द सुनने, पहली बातों के स्मरण रखने, पदार्थों के पहचानने, संकल्प शक्ति आदि का अस्तित्व है, और न जिनमें काम क्रोध आदि वासनाएं पाई जाती हैं। इस श्रेणी में समस्त चिरपरिचित भौतिक पदार्थ जैसे पत्थर, मिट्टी, बालू, मेज, कुरसी आदि घन पदार्थ, जल, दूध, मदिरा, रुधिर आदि द्रव पदार्थ, वायु आदि तरल पदार्थ आते हैं।

पहली श्रेणी के मनुष्य आदि पदार्थ की जब परीक्षा की जाती है तो

ज्ञात होता है कि मनुष्य को भी दृश्य व अदृश्य दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है :—

मनुष्य का दृश्य भाग तो दूसरी श्रेणी के भौतिक पदार्थ से बिल्कुल मिलता जुलता है। वह नेत्र के द्वारा दृष्टिगोचर, हस्त के द्वारा स्पर्श किया जाता है, उसके शरीर से गन्ध आती है। मनुष्य जब मर जाता है, उसका दृश्य भाग पड़ा रहता है और जब उसका अग्नि में दाह संस्कार किया जाता है तो कुछ भाग जलकर वायु में मिल जाता है, शेष भाग राख या हड्डी के रूप में पड़ा रहता है, जो निःसन्देह भौतिक पदार्थ हैं। इसी प्रकार मनुष्य का शरीर दूध, जल, फल, अन्न आदि भौतिक पदार्थों के द्वारा बाल अवस्था से पोषित होकर प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त होता है। इन बातों से स्पष्ट है कि मनुष्य का दृश्य बाह्य भाग शरीर निःसन्देह भौतिक पदार्थ का बना हुआ है। मनुष्य के अदृश्य भाग की परीक्षा अब शेष रहती है।

(२) देखने सुनने वाला भौतिक पदार्थ से भिन्न है

मनुष्य जब किसी पदार्थ को देखता है तो उस पदार्थ का चित्र उसके नेत्रों के अन्दर पुतली के पीछे बनता है और वहां से वह चित्र सूक्ष्म तन्तुओं के हलन चलन द्वारा मस्तिष्क तक पहुंचता है। यदि उस व्यक्ति का ध्यान उस पदार्थ की ओर होता है तो वह पदार्थ उसको दिखलाई देता है एवं उसके अस्तित्व का भान उसको होता है। फिर वह व्यक्ति उस पदार्थ के गुण दोष आदि बातों पर विचार करता है।

यदि उस व्यक्ति का ध्यान उस पदार्थ की ओर नहीं होता है तो वह पदार्थ आंखों के सामने होता हुआ भी दिखलाई नहीं पड़ता है, न उसके अस्तित्व का भान होता है। इस दशा में भी उस पदार्थ का चित्र आंख के भीतर पुतली के पीछे बनता है और वह सूक्ष्म तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क तक पूर्ववत पहुंचता है। केवल अन्तर यह है कि उस व्यक्ति का ध्यान इस दशा में उस पदार्थ की ओर नहीं है।

नेत्रों के सामने पदार्थ होने पर, उसका चित्र नेत्रों के भीतर पुतली के पीछे बनना एवं सूक्ष्म तन्तुओं के हलन चलन द्वारा मस्तिष्क तक पहुंचना, वैज्ञानिक नियमानुसार, बराबर होता रहता है; परन्तु मनुष्य के ध्यान पर विज्ञान का कोई भी नियम लागू नहीं होता। मनुष्य का ध्यान विज्ञान के समस्त परिचित नियमों से नितान्त स्वतंत्र एवं भिन्न है।

यही दशा शब्द सुनने के समय होती है। शब्द कान तक पहुंचता है, वहां से सूक्ष्म तन्तुओं के हलन चलन द्वारा मस्तिष्क तक पहुंच जाता है। यदि उस व्यक्ति का ध्यान शब्द की ओर है तो वह शब्द सुनाई पड़ता है; यदि उसका ध्यान किसी अन्य वस्तु की ओर लगा है और उस शब्द की ओर नहीं है तो वह शब्द पास होता हुआ भी, सुनाई नहीं पड़ता है।

इससे ज्ञात होता है कि मनुष्य के अन्दर भौतिक पदार्थ के अतिरिक्त कोई अन्य सूक्ष्म पदार्थ है, जिसके ध्यान देने पर मनुष्य निकटवर्ती वाह्य वस्तुओं को देख या पास होने वाले शब्द को सुन सकता है और यदि उस सूक्ष्म पदार्थ का ध्यान वाह्य वस्तु या शब्द की ओर नहीं है तो वह व्यक्ति उस समीपवर्ती वस्तु को न देख सकता है और न पास में होने वाले शब्द को सुन ही पाता है।

(३) जानने अनुभव करने वाला मस्तिष्क से भिन्न अखंड मूलतत्व है

मनुष्य में जानने, विचारने एवं अनुभव करने की शक्ति है। किसी भी भौतिक पदार्थ में यह गुण नहीं पाया जाता। भौतिक पदार्थ के बने हुए एंजिन को ले लीजिये, वह मनुष्य की भांति चलता फिरता है। कोयला, पानी के रूप में भोजन करता है परन्तु उसमें विचारने, सोचने, अनुभव करने की शक्ति का सर्वथा अभाव है।

मनुष्य के सामने जब कोई बात होती है तो वह उस पर विचारता है। उस बात की लाभ हानि एवं गुण दोष पर ध्यान देता है व अनेक प्रकार की योजनाएं बनाता है। इन सब बातों का भौतिक पदार्थ के बने एंजिन में सर्वथा अभाव है। अब प्रश्न उठता है कि यह ज्ञान व अनुभव मनुष्य में कहां से आया ?

यदि यह कहा जावे कि किसी घटना या पदार्थ के सन्मुख उपस्थित हो जाने पर मस्तिष्क या शरीर के किसी भाग से एक प्रकार का सूक्ष्म पदार्थ निकलता रहता है, जो विचारने या सोचने का कार्य करता है तो ऐसी दशा में यह मानना होगा कि समय समय पर भिन्न भिन्न घटना व बातों के सम्मुख उपस्थित हो जाने पर पृथक् पृथक् सत्ता रखने वाले सूक्ष्म पदार्थ निकलते रहते हैं, जो विचारने आदि का कार्य करते हैं। यह भी मानना होगा कि मनुष्य के अन्दर पृथक्-पृथक् सत्ता रखने वाले ऐसे असंख्यात सूक्ष्म पदार्थ हैं, जो भिन्न-भिन्न समय में सोचने का कार्य करते हैं। सूक्ष्म पदार्थ भिन्न-भिन्न घटना व बातों से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए इन पदार्थों का कार्य व विचारने की शैली भी भिन्न-भिन्न होगी। भिन्न-भिन्न कार्य के होने से इनमें परस्पर विरोध भी होगा, जिसका परिणाम यह होना चाहिये कि विरोधी कार्य होने से शरीर का एक भाग एक प्रकार का कार्य करे और दूसरा भाग बिल्कुल उसके विपरीत विरोधी कार्य करे या इनमें परस्पर टक्कर लग जाने से ये सूक्ष्म पदार्थ कार्य शक्ति विहीन हो जावें। परन्तु ऐसा देखने व अनुभव में नहीं आता। मनुष्य बराबर सोचता विचारता रहता है। कभी भी उसकी विचार-शक्ति नष्ट नहीं होती। इसलिए यही मानना पड़ेगा कि जानने विचारने की शक्ति वाला एक सरल पदार्थ है जिसमें पृथक्-पृथक् विरोधी अंश नहीं है और जिसका कार्य सरल व लगातार होता रहता है। इससे इसी परिणाम पर पहुँचा जाता है कि मनुष्य के भीतर जानने, अनुभव करने वाला मस्तिष्क से भिन्न अखंड मूल तत्व है।

(४) स्मरण रखने वाला पदार्थ पुद्गल[1] से पृथक् है

मनुष्य व भौतिक पदार्थ के बने हुए एंजिन में एक और भी अन्तर है। मनुष्य पहिली बातों को स्मरण रख सकता है। पहिले देखे हुए पदार्थ पर दृष्टि पड़ते ही कह देता है कि यह वही पदार्थ है कि जिसको मैंने पहिले अमुक समय पर देखा था। इस स्मरण शक्ति का एंजिन में सर्वथा अभाव है। स्मरण शक्ति बतलाती है कि जिसने पहिले वस्तु को देखा था, वही देखने वाला आज भी विद्यमान है।

यह स्मरण शक्ति कहां से आ गई? यदि यह कहा जावे कि किसी घटना या वस्तु के सम्मुख उपस्थित होने पर मस्तिष्क या शरीर के किसी विशेष भाग से सूक्ष्म अंश निकलते रहते हैं जिनका कार्य स्मरण रखना है तो ऐसी घटना व वस्तुयें हर समय होती रहती हैं, इसलिए यह भी मानना होगा कि उपरोक्त प्रकार के सूक्ष्म अंश भी लगातार निकलते रहते हैं। इन सूक्ष्म अंशों को या तो इकट्ठा होते रहना मानना होगा या यह मानना होगा कि जब दूसरे क्षण में नवीन अंश आ जाते हैं तो पहिले अंश नष्ट हो जाते हैं। यदि पहिले अंशों को नष्ट होना माना जावे तो स्मरण हो नहीं सकता। जिन सूक्ष्म अंशों ने पहिले वस्तु को देखा था, जब वे ही नहीं तो पहचानेगा या स्मरण रखेगा कौन?

यदि मनुष्य के अन्दर भिन्न-भिन्न समय में उत्पन्न हुए सूक्ष्म अंशों का एकत्रित होना माना जावे तो यह असम्भव है कि एक क्षण के अनुभव को अन्य क्षणों के अनुभव से मिलाकर कोई परिणाम निकाला जा सके क्योंकि इन पृथक्-पृथक् अंशों के अनुभव को समन्वय करने वाला कोई

---

[1] जैनदर्शन ने भौतिक पदार्थ के लिये पुद्गल शब्द का प्रयोग किया है।

विशेष अंश नहीं है; इसलिये यही मानना पड़ेगा कि स्मरण रखने वाला पुद्गल से भिन्न, कोई विशेष अखंड मूल तत्व है जो पहिले जानी हुई बातों को स्मरण रख सकता है।

(५) मनुष्य में संकल्प शक्ति है

मनुष्य और एंजिन की क्रियाओं को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि मनुष्य में संकल्प-शक्ति (will power) है कि मैं आज अमुक कार्य करूंगा। यह संकल्प-शक्ति मनुष्य में राजा के सदृश है। राजा की आज्ञा पाते ही जैसे मंत्री आदि आधीन पुरुष कार्य करने लगते हैं, ठीक उसी प्रकार संकल्प होते ही मनुष्य के हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियां उसके संकल्प के अनुसार काम करने लगती हैं। किसी मनुष्य ने संकल्प किया कि मुझको वायुसेवन करने के लिये अभी पुष्प-वाटिका में जाना है। संकल्प के होते ही उसका शरीर जो पहिले लेटी हुई अवस्था में चेष्टा-रहित था, खड़ा हो जाता है और पुष्प-वाटिका की ओर जाता हुआ दृष्टिगोचर होता है। भौतिक एंजिन में इस संकल्प-शक्ति का सर्वथा अभाव है। एंजिन में यह कभी नहीं पाया जाता कि वह संकल्प करे कि मैं आज चलूंगा, विश्राम करूंगा आदि। एंजिन के सदृश किसी भी भौतिक पदार्थ में यह संकल्प-शक्ति नहीं पाई जाती। इस संकल्प-शक्ति पर प्रकृति का कोई भी नियम लागू नहीं होता। यह संकल्प-शक्ति इस बात की द्योतक है कि इसका धारक कोई सूक्ष्म मूलतत्व मनुष्य के भीतर अवश्य है, जिसका स्वरूप भौतिक पदार्थ से सर्वथा भिन्न है।

(६) मनुष्य में काम क्रोध आदि भावनायें हैं

मनुष्य की चेष्टा व एंजिन की क्रियाओं को देखने से ज्ञात होता है कि एक और विषय में भी इन दोनों में बड़ी विभिन्नता है। मनुष्य कभी क्रोध, कभी गर्व के आवेश में दिखलाई देता है, कभी लोभ के वशीभूत

हुआ अनेक प्रकार के कार्य एवं सामग्रियां एकत्रित करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार मनुष्य में अनेक प्रकार की भावनाएं पाई जाती हैं। एंजिन में इस प्रकार की भावनाओं के अस्तित्व का सर्वथा अभाव है। मनुष्य की इन अनेक प्रकार की भावनाओं पर प्रकृति का कोई भी नियम लागू नहीं होता। यदि ये काम क्रोध आदि भावनायें मनुष्य के भौतिक मस्तिष्क आदि किसी अंग से उत्पन्न होतीं तो इन भावनाओं पर भौतिक पदार्थ सम्बन्धी नियम लागू होते। यह नहीं होता कि मनुष्य में विद्यमान भावनायें प्राकृतिक नियमों का सर्वथा उल्लंघन करतीं। प्राकृतिक नियमों से सर्वथा स्वतन्त्र, अनेक प्रकार की रागद्वेष आदि भावनाओं के अस्तित्व से प्रमाणित होता है कि इन भावनाओं का धारक पदार्थ मनुष्य में अवश्य है, जो पुद्गल से सर्वथा भिन्न हैं।

(७) ज्ञान, संकल्प-शक्ति, रागद्वेषादि भावनायें आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मनुष्य में शब्द सुनने, पदार्थ देखने, हित अहित पहिचानने, पहिली बातों के स्मरण रखने के गुण, संकल्प-शक्ति एवं रागद्वेष आदि भावनायें भौतिक पदार्थ से उत्पन्न नहीं होतीं। गुण (attributes) कभी भी विना आधार किसी वस्तु के स्वतंत्र रूप से नहीं पाये जाते हैं; सदैव किसी न किसी वस्तु में रहते हैं। ऐसा दिखलाई नहीं देता कि गुण विद्यमान हों किन्तु उनकी धारक वस्तु विद्यमान न हो। उष्णता एक गुण है जो अग्नि आदि पदार्थों में पाया जाता है। उष्णता गुण, विना किसी वस्तु के आधार, स्वतंत्र रूपसे, कभी अनुभव नहीं किया जाता। उष्णता गुण सदैव किसी न किसी वस्तु के आधार पर रहता है। यही बात अन्य गुणों के सम्बन्ध में है। लाल रंग को ही लीजिये। वह किसी न किसी वस्तु का रंग होता है। यह नहीं हो सकता कि विना आधार किसी वस्तु के, रक्त वर्ण स्वतंत्र रूप से विद्यमान

हो। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रत्येक गुण के लिये आवश्यक है कि उस गुण का धारण करने वाला कोई गुणी पदार्थ हो। यह तो हो सकता है कि गुणों की धारक वस्तु नेत्र आदि इन्द्रियों के गोचर न हो, अदृश्य हो।

मनुष्य में शब्द सुनने, पदार्थ देखने, पहिली बातों के स्मरण रखने, संकल्प करने एवं रागद्वेष आदि भावनाओं की जो विशषतायें विद्यमान हैं ये समस्त गुण हैं। कोई भी गुण किसी गुणी पदार्थ के आधार विना विद्यमान नहीं रह सकता है, इसलिये उपरोक्त गुणों के धारण करने वाले एक या अधिक गुणी पदार्थ अवश्य होने चाहियें। अब यह जानना शेष रह जाता है कि उपरोक्त समस्त गुणों का धारण करने वाला एक ही पदार्थ है या एक से अधिक।

प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण होते हैं जो उसमें एक ही साथ एक ही समय में पाये जाते हैं। दृष्टान्त के तौर पर गुलाव के फूल को लीजिये। यह स्पर्श करने में कोमल, देखने में गुलावी वर्ण का प्रतीत होता है। उसमें सुगन्ध व एक प्रकार का विशेष स्वादु होता है। शीतलता, स्वास्थ्य-वर्धकता, हृदय-ग्राह्यता, रेचकता आदि अनेक गुण इस पुष्प में एक ही साथ एक ही समय में पाये जाते हैं। इन समस्त गुणों के एक ही पदार्थ में एक ही साथ रहने में कोई आपत्ति नहीं आती। केवल वे गुण—जो परस्पर विरोधी होते हैं—किसी वस्तु में एक साथ एक समय में नहीं रह सकते हैं। गुलाव के पुष्प में सुगन्ध के साथ दुर्गन्ध, कोमलता के साथ रूक्षता, गुलावी वर्ण के साथ हरित पीत आदि वर्ण, उसके विशेष स्वादु के साथ अन्य स्वादु, स्वास्थ्य-वर्धकता के साथ हानि-प्रदायित्व, हृदय-ग्राह्यता के साथ घृणास्पदता, रेचकता के साथ मल-निरोधत्व आदि विरोधी गुण, एक साथ एक समय में विद्यमान नहीं रह सकते। अग्नि का स्वभाव उष्णता है, उसमें शीतलता का गुण वास नहीं कर सकता। यदि अग्नि में शीतलता प्रवेश कर जावे तो वह अग्नि, अग्नि ही नहीं रहेगी; उष्णता के नष्ट होने के साथ-साथ अग्नि का भी नाश हो जावेगा।

विचारने से ज्ञात होता है कि शब्द सुनने, पदार्थ देखने, हित अहित पहिचानने, पूर्व काल की बातों को स्मरण रखने में ज्ञान गुण से ही काम लिया जाता है। किसी वस्तु को नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रियों के द्वारा पहिले जाना जाता है फिर उस वस्तु पर विचार किया जाता है कि यह लाभ-दायक है या हानिकारक। फिर उस वस्तु के स्मरण रखने की आवश्य-कता होती है। उपरोक्त मानसिक चेष्टाओं में ज्ञान गुण ही प्रयोग में लाया जाता है। इन ज्ञान चेष्टाओं में इन्द्रियों के द्वारा किसी वस्तु का जानना, ज्ञान की प्रथम अवस्था है, उस वस्तु के हित अहित पर विचारना ज्ञान की द्वितीय अवस्था है; विचारने के पश्चात् स्मृति में रखना उसी ज्ञान की तृतीय अवस्था है। इस प्रकार शब्द सुनने, पदार्थ देखने, हित अहित पहिचानने, पहिली बातों के स्मरण रखने आदि का—ज्ञान गुण की भिन्न-भिन्न अवस्थायें होने के कारण—ज्ञान गुण में ही समावेश हो जाता है।

ज्ञान गुण, संकल्प-शक्ति एवं रागद्वेपादि भावनाओं में परस्पर विरोध विचार करने से ज्ञात नहीं होता। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि यदि किसी पदार्थ का स्वभाव ज्ञानमयी है तो उस स्वभाव के साथ-साथ अन्य दोनों गुण—संकल्प-शक्ति व रागद्वेपादि भावना—विद्यमान न रह सकते हों, वरन् निम्नलिखित बातों से प्रकट होता है कि इन तीनों गुणों का आधार एक ही वस्तु है।

मानव समाज का अन्वीक्षण करने से ज्ञात होता है कि इस संसार में ऐसा कोई व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होता कि जिसमें ये तीनों गुण एक साथ न पाये जाते हों। ऐसा कोई व्यक्ति दिखलाई नहीं देता है कि जिसमें एक या दो गुण हों और शेष गुण न हों। इन तीनों गुणों के एक ही साथ पाये जाने से अनुमान होता है कि इन तीनों गुणों का आधार एक ही पदार्थ है। इसके अतिरिक्त यह युक्तिसंगत भी है कि जब इन तीन गुणों के आधार के सम्बन्ध में, एक ही पदार्थ के मान लेने से काम

चल जाता है तो एक से अधिक पदार्थ मानने की आवश्यकता ही क्या है ?

इन गुणों पर गहन दृष्टि से विचारने से ज्ञात होता है कि इन तीनों गुणों के अन्तर्गत, "अनुभव गुण" (Realization) महसूस करना, किसी न किसी दशा में पाया जाता है। मनुष्य जब किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है तो उसका चित्र उसके मस्तिष्क के अन्दर खिच जाता है। उस समय उस वस्तु का अनुभव उसको होता है। इसी भांति मनुष्य जब किसी कार्य करने का संकल्प करता है और उसका समस्त शरीर उस संकल्प के अनुसार कार्य करने में प्रवृत्त होता है, उस (संकल्प) समय उस मनुष्य को अपनी शक्ति का अनुभव होता है। इसी प्रकार मनुष्य जब क्रोध, अभिमान आदि किसी भावना के वशीभूत होता है उस समय उसको उस भावना के अन्तर्गत सुख या दुख का अनुभव होता है। इस प्रकार उपरोक्त तीनों गुणों के अन्तर्गत 'अनुभूति' गुण किसी न किसी दशा व अंश में अवश्य पाया जाता है। इससे यही प्रमाणित होता है कि मनुष्य में भौतिक शरीर के अतिरिक्त केवल एक ही पदार्थ है जिसके ज्ञान, संकल्प-शक्ति एवं रागद्वेष आदि भावना चिन्ह हैं। इस पदार्थ (द्रव्य) को आत्मा या जीव कह सकते हैं।[१]

---

[१] दार्शनिकों ने ज्ञानधारी पदार्थ को आत्मा व जीव कहा है, इसलिये यही नाम रखने उचित प्रतीत होते हैं।

३—विज्ञान आत्मा के सम्बन्ध में क्या कहता है ?

(१) विज्ञान का प्रारंभिक काल

पाश्चात्य वैज्ञानिकों में आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में बड़ा मत-भेद है। प्रारम्भिक काल में विज्ञान भौतिक पदार्थों के गुण, स्वभाव आदि बातों के जानने तथा शब्द, प्रकाश, विद्युत आदि प्राकृतिक शक्तियों के अनुसन्धान में लगा रहा। मनुष्य के जीवन एवं आत्म स्वभाव, ज्ञान, रागद्वेष आदि भावना आदि प्रश्नों की ओर उसका ध्यान न था। इन प्रश्नों को न केवल उपेक्षा की दृष्टि से प्रत्युत घृणा व विरोध की दृष्टि से देखता था।

विज्ञान की दृष्टि में उस समय आत्मा सम्बन्धी प्रश्न बेकार, समय को नष्ट करने वाले एवं मानव समाज को अन्धकार में डालने वाले थे। उसका विश्वास था कि आत्मा सम्बन्धी प्रश्नों की व्याख्या करने वाले धर्मों से संसार का बड़ा अहित हुआ है। इन धर्मों ही के कारण मानव समाज में रुधिर की नदियां बही हैं। इन धर्मों ने ही उसको प्राचीन काल में आगे बढ़ने से रोका था। ईसाई धर्मावलम्बियों ने तो विज्ञान पर उसके बाल्य काल में घोर अत्याचार किये थे। गेलिल्यो (Galeleo) आदि आविष्कारकों को जेल, मृत्युदंड आदि अनेक यातनायें दी हैं तथा उसके समूलोन्मूलन के सब ही उपाय प्रयोग में लाये गये हैं। ऐसे संकटाकीर्ण मार्ग तथा विकट परिस्थितियों में से होकर विज्ञान को आगे बढ़ना पड़ा है। विज्ञान ने आधुनिक मानव समाज में वर्तमान उच्च पद अपने पुजारी वैज्ञानिकों के असीम उत्साह व त्याग के कारण ही प्राप्त किया है। ऐसी दशा में विज्ञान का धर्म के प्रति उपेक्षा व विरोध का होना स्वभाविक ही

था। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, विज्ञान का विरोध धर्म के प्रति धीरे-धीरे कम होता गया; अन्त में विरोध उपेक्षा के भाव में परिवर्त्तित हो गया। कुछ समय से यह उपेक्षा का भाव भी कम होने लगा है और वैज्ञानिकों का ध्यान जीवन सम्बन्धी प्रश्नों की ओर जाने लगा है।

गत ७० वर्षों में अनेक वैज्ञानिकों ने विशेषकर मनोवैज्ञानिकों ने (Psychologists) ने इस प्रश्न पर विचार किया है। प्राचीन वैज्ञानिकों में से अधिकतर ज्ञान को भौतिक मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ मानते थे। उनके विचार में आत्मा पुद्गल से पृथक कोई वस्तु न थी। ज्ञान, स्मृति, रागद्वेष आदि अनेक प्रकार की मानसिक चेष्टाओं का संतोषप्रद उत्तर उनकी उपरोक्त धारणा से नहीं मिलता था, इसलिये अर्वाचीन समय में कितने ही मनोवैज्ञानिक आत्मा के अस्तित्व को भौतिक पदार्थ से भिन्न मानने लगे हैं। कुछ वैज्ञानिकों के मत यहां उद्धृत किये जाते हैं :—

(२) वैज्ञानिकों के मत

(क) श्री वर्गसन का मत

प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री वर्गसन लिखते हैं[1] :—

"Two points are equally striking in an organ like the eye, the complexity of its structure and the simplicity of its function. The eye is composed of distinct parts such as the Sclerotic, the Cornea, the Retina, the Crystalline lens etc. In each of these

---

[1] Creative Evolution (उत्पादक विकास) नामी पुस्तक पृ० ९३ पर लिखते हैं।

parts, the detail is infinite....The mechanism of the eye is, in short, composed of an infinity of mechanisms, all of extreme complixity. Yet Vision is one simple fact. As soon as the eye opens the visual act is affected. Thus because the act is simple, the slightest negligence on the part of nature in the building of the infinitely complex machine would have made vision impossible. This contrast between the complexity of the organ and the unity of the function is, what gives us pause. A mechanistic theory is one which means to show us, the gradual building up of the machine under the influence of the external cir-umstances......supposing it avails at all to explain the details of the parts, it throws no light on their corelations........This contrast between the infinite complexity of the organ and the extreme simplicity of the function is what should open our eyes.

जिसका अनुवाद हिन्दी भाषा में निम्न प्रकार होता है :—

"नेत्र सदृश इन्द्रिय में दो विशेषतायें प्रतीत होती हैं, उसके बनावट की पेचीदगी एवं उसके कार्य की सरलता। नेत्र पुतली, तिल, काला सफ़ेद प्रदेश, कोया आदि भागों का बना हुआ है। प्रत्येक भाग का विवरण असीम है।....नेत्र का यंत्र, छोटे-छोटे असंख्यात पेचीदे यंत्रों का बना हुआ है। तिसपर भी दर्शन कार्य बड़ा सरल है। जैसे ही नेत्र खुलता है, बाह्य पदार्थों का दर्शन कार्य आरम्भ हो जाता है। यदि प्रकृति नेत्र से पेचीदा यंत्र की बनावट में तनिक सी

भी असावधानी करती तो दर्शन कार्य असम्भव हो जाता। इस अंग के वनावट की पेचीदगी तथा इनके कार्य की ऐक्यता विचारने के लिये वाध्य करती है। यांत्रिक सिद्धान्त (Mechanic theory) वतलाता है कि यंत्र, जैसे कि नेत्र, वाह्य परिस्थिति से प्रभावित होकर धीरे-धीरे कैसे वनता है....। यदि इस सिद्धान्त के द्वारा इस यंत्र के भागों का विवरण भी ज्ञात हो जावे, परन्तु इस सिद्धान्त से यह ज्ञात नहीं होता है कि दर्शन कार्य का सम्वन्ध नेत्र-यंत्र से क्या है।....नेत्र के वनावट की असीम पेचीदगी एवं उसके दर्शन कार्य की सरलता की तुलना हमको विस्मय में डाल देती है!

(ख) पादरी बटलर व आचार्य टेंडल का मत

विख्यात वेलफास्ट के व्याख्यान में जो तर्क पादरी वटलर (Bishop Butler) ने इस सम्वन्ध में किया है उसका खंडन आज तक नहीं किया जा सका। इस तर्क के सम्वन्ध में स्वर्गीय वैज्ञानिक आचार्य टेंडल (Tyndall) ने कहा था कि यह तर्क अखंडनीय है। इस तर्क के शब्द निम्न प्रकार हैं[1] :—

"Take your dead hydrogen atoms, your dead oxygen atoms, your dead carbon atoms, your dead nitrogen atoms, your dead phosphorous atoms and all other atoms dead as grains of shot, of which the brain is formed. Imagine them separate and senseless, observe them running together and forming all imaginable combinations. This, as a

---

[1]आचार्य टेंडल (Tyndall) रचित Fragments of Science, Vol. II.

purely mechanical process, is seeable by the mind. But can you see or dream or in any way imagine, how out of that mechanical act and from these individually dead atoms, sensation, thought and emotion are to arise? Are you likely to create Homer out of the rattling of dice or Differential calculus out of the clash of Billiard ball?....You can not satisfy the human understanding in its demand for logical continuity between molecular process and the phenomena of consciousness."

जिसका हिन्दी अनुवाद निम्नं लिखित होता है :—

आप हाइड्रोजन तत्व के मृत परमाणु, प्राणवायु (आक्सीजन) तत्व के मृत परमाणु, कारवन तत्व के मृत परमाणु, नाइटरोजन तत्व के मृत परमाणु, फासफोरस तत्व के मृत परमाणु तथा वारूद की भांति उन समस्त तत्वों के मृत परमाणु जिनसे मस्तिष्क वना है ले लीजिये। विचारिये कि ये परमाणु पृथक-पृथक एवं ज्ञानशून्य हैं, फिर विचारियें कि ये परमाणु साथ-साथ दौड़ रहे हैं और परस्पर मिश्रित होकर जितने प्रकार के भी स्कंध हो सकते हैं, वना रहे हैं। इस शुद्ध यांत्रिक क्रिया का चित्र आप अपने मन में खींच सकते हैं। क्या यह आपकी दृष्टि, स्वप्न या विचार में आ सकता है कि इस यांत्रिक क्रिया या इन मृत परमाणुओं से वोव, विचार एवं भावनायें उत्पन्न हो सकती हैं! क्या फांसो के खट-खटाने से होमर कवि[1] या विलयर्ड खेल की गेंद के खनखनाने से गणित

---

[1]होमर यूनान देश का अत्यन्त विख्यात प्राचीन कवि है जिसकी इलियड एंड ओडसी (Illiad and Oddessy) नाम की कविता पुस्तकें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

का डिफरन्शियल केलकुलस निकल सकता है ?....आप मनुष्य की जिज्ञासा का—परमाणुओं के परस्पर सम्मिश्रण की यांत्रिक क्रिया से ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो गई,—संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सकते।

वटलर महोदय की इस प्रवल युक्ति से वचने के लिये आचार्य टेंडल ने पुद्गल शब्द की व्याख्या ही वदल दी। आचार्य टेंडल ने कहा है कि यदि पुद्गल शब्द का वही अर्थ लें जो विज्ञान की पुस्तकों में दिया हुआ है तो यह विचार में नहीं आ सकता कि ज्ञान मय जीवन भौतिक पदार्थ से कैसे उत्पन्न हो गया। पादरी वटलर के युक्तिसंगत तर्क से पुराना विचार—ज्ञान व आत्मा भौतिक पदार्थ से ही उत्पन्न होता है—खंडित हो जाता है। आचार्य महोदय कहते हैं कि जिन्होंने 'पुद्गल' शव्द की व्याख्या की है उन्होंने पुद्गल को सव दृष्टिकोणों से नहीं देखा था; वे गणितज्ञ या वैज्ञानिक थे; उनका विज्ञान यांत्रिक विधान तक सीमित था। वे जीवन व मनोविज्ञान के ज्ञाता न थे, उन्होंने जीवन विज्ञान का अध्ययन नहीं किया था। इसलिये आचार्य महोदय पुद्गल की व्याख्या में ज्ञान व भावना को भी सम्मिलित करते हैं क्योंकि आत्मा शरीर से पृथक् नहीं पाया जाता।

आचार्य महोदय का पुद्गल की व्याख्या में ज्ञान व भावना युक्त-आत्मा का सम्मिलित कर लेना उचित नहीं है। पुद्गल चेतनता रहित, ज्ञानशून्य जड़ पदार्थ है और आत्मा चेतनायुक्त ज्ञानमयी द्रव्य है। इन दोनों पदार्थों के गुणों में परस्पर घोर विरोध, पूर्ण वैपरीत्य है। यह असम्भव है कि एक ही पदार्थ का स्वभाव जड़ व अचेतन हो और साथ-साथ उसका स्वभाव ज्ञानमयी व चेतन भी हो। यह पहिले ही निर्णय किया जा चुका है कि किसी वस्तु में दो परस्पर विरोधी गुण एक साथ एक ही समय में विद्यमान नहीं रह सकते हैं। इसलिये अचेतन जड़ गुण व चेतन ज्ञान गुण—इन दो प्रतिपक्षी गुणों—के धारण करने वाले दो भिन्न-भिन्न पदार्थ मानने होंगे जिनको कि पुद्गल व आत्मा कहते हैं।

मनुष्य–भौतिक शरीर व ज्ञानमयी आत्मा—दो भिन्न भिन्न पदार्थो का संयुक्त प्राणी है।

(ग) श्री मेकडूगल का मत

विख्यात मनोवैज्ञानिक श्री मेकडूगल[1] लिखते हैं कि :—

"We are compelled to admit....that the so-called Psychical elements are not independent entities but are partial effections of a single substance or being; and since....this is not any part of brain, is not a material substance, but differs from all material substances in that, while it is unitary, it is yet present, can act or be acted upon, at many points in space simultaneously (namely the various parts of the brain in which Psycho-physical processes are at any moment occuring). We must regard it as an immaterial substance or being. And this being thus necessarily postulated as the ground of the unity of individual consciousness, we may call it the *Soul* of the individual"

जिसका हिन्दी अनुवाद निम्नलिखित है :—

हम इस बात के मानने के लिये बाध्य हैं....कि कथित मानसिक चेष्टाओं का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है वरन् ये एक ही पदार्थ या मूल

---

[1] देखो उनकी पुस्तक (Physiological Psychology) फिज़ियालाजिकल साइकोलाजी अर्थात् शारीरिक मनोविज्ञान।

तत्व की अवस्थायें विशेष हैं। यह मूल तत्व मस्तिष्क का अंश नहीं है इसलिये यह भौतिक पदार्थ नहीं हो सकता। भौतिक पदार्थों से इस बात में विभिन्नता है कि यह एक अखंड मूल तत्व है जो आकाश के कितने ही भागों में (मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों में जहां कि मानसिक भौतिक चेष्टायें होती रहती हैं) एक ही साथ कार्य कर सकता है या इस पर कार्य किया जा सकता है। हमको यह पदार्थ पुद्गल से पृथक मानना होगा। क्योंकि यही पदार्थ मनुष्य के सम्पूर्ण ज्ञान का आधार है इसलिये इस पदार्थ को मनुष्य की आत्मा कह सकते हैं।

४—मनोविज्ञान अनुसंधान समिति के अनुभव

पाश्चात्य देशों में स्थापित 'मनोविज्ञान अनुसन्धान समिति' (Psychical Research Society) के अनुसन्धानों से निश्चय हो गया है कि मनुष्य में आत्मा है और यह आत्मा मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहता है। मनोवैज्ञानिक श्री एफ० डब्लू० एच०, मेयरस (Mr. F. W. H. Meyers) ने—जो उपरोक्त समिति के संस्थापकों में से हैं और जिनके प्रयत्न व अनुसन्धान से मनोविज्ञान सम्बन्धी विषय को आधुनिक वैज्ञानिक युग में उचित स्थान मिला है—अपनी पुस्तक 'मानुषिक व्यक्तित्व एवं मृत्यु के पश्चात उसका अस्तित्व' (The Human Personality and its Survival of bodily death) में बहुत से अनुसन्धान दिये हैं जिनके अध्ययन से आत्मा के अस्तित्व व उसकी मानसिक शक्तियों के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इन अनुसन्धानों में से कुछ अनुसन्धान यहां उद्धृत किये जाते हैं।

(१) व्यक्तित्व में परिवर्तन

एक ही व्यक्ति में भिन्न-भिन्न समयों पर ऐसी भिन्न-भिन्न अवस्थायें दिखलाई देती हैं कि जिससे उसमें भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व प्रतीत होते हैं जब कि उस व्यक्ति के शरीर की बनावट में कोई विशेष अन्तर दिखलाई नहीं देता है।

(क) स्मृति का अकस्मात् नष्ट हो जाना

पहिली दशा स्मृति के अकस्मात नष्ट हो जाने की है। ऐसे कई उदाहरण उपस्थित हैं कि जिनमें मनुष्य की स्मृति कुछ समय के लिये,

विल्कुल नष्ट हो गई थी। स्मृति के नष्ट हो जाने से वह मनुष्य पृथक् व्यक्तित्व की भांति कार्य करने लगा था, जब पहिली स्मृति उस मनुष्य में आई तो उसकी स्थिति पूर्ववत हो गई। परन्तु उस मनुष्य को अपनी द्वितीय अवस्था का—जब उसकी स्मृति नष्ट हो गई थी—कुछ भी ज्ञान नहीं रहा। मेयरस् ने अपनी पुस्तक[1] में एक ऐसा ही उदाहरण दिया है जो उद्धृत किया जाता है :—

अमेरिका के अन्तर्गत वरजिनिया प्रदेश के श्री ड्र्यूरी (Mr. Drewry) जून १८९६ के मेडिको-लीगल पत्रिका (Medico-Legal Journal) में निम्नलिखित घटना का वर्णन करते हैं :— श्री के० एक व्यापारी था जिसकी आयु ५० वर्ष की थी, जिसका शरीर हृष्ट-पुष्ट सुगठित था, जो शान्ति-प्रिय, सच्चरित्र, परिश्रमी, प्रसन्न चित्त और अपने परिवार से सन्तुष्ट था। एक दिन दूसरे नगर को अपने व्यापार के लिये सामान मोल लेने के लिये गया। वहां दो दिन तक ठहरा; कितना ही व्यापार किया, मित्रों से मिला और फिर वापिस आने के लिये जहाज पर चढ़ गया। जहाज पर जब टिकट इकट्ठा करने का समय आया तो वह वहां पर नहीं पाया गया, ढूंढ़ने पर उसका कोई पता नहीं चला। छः मास पश्चात् अकस्मात् वह घर आया। उसका वजन २५० पौंड से घट कर १५० पौंड रह गया था। वह वहुत दुर्वल और कुछ विक्षिप्त सा था। पहिले के ही वस्त्र पहिने हुए था। जहाज के कमरे की ताली उसकी जेव में थी। जब उसको होश आया तो उसने अपने आपको एक सड़क पर फलों की गाड़ी हांकते हुए पाया। उसको तनिक भी स्मरण न था कि वह वहां कैसे, कब और कहां से आया और वह क्या कर रहा है। इन सब प्रश्नों का समझना उसके लिये कठिन समस्या हो गई थी।

---

[1] The Human Personality and its Survival of bodily death. पैरा २२८

वहां से चलकर वह अपने घर आ गया। उसको जहाज के कमरे में प्रवेश करने का स्मरण था परन्तु उसके पश्चात् के ६ मास की तनिक भी स्मृति न थी कि वह कहां-कहां गया और कहां-कहां रहा।

(ख) एक ही समय में भिन्न २ व्यक्तित्व

कुछ ऐसे व्यक्ति देखे गये हैं कि जिनमें दो या तीन व्यक्तित्व पाये गये हैं। निम्नलिखित वृत्तान्त १८९५ की अमरीकन मेडीकल एसोसियेशन की पत्रिका (American Medical Association Journal) में दिया है[1]:—

एल्मा ज़ेड (Alma Z) एक अत्यन्त स्वस्थ, बुद्धिमती बालिका थी। अति परिश्रम के कारण उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया। दो वर्ष तक रुग्ण रहने पर उसमें अकस्मात् दूसरे व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव हुआ। उसने अमेरिका के आदि निवासियों के बालिकाओं की भांति एक अनोखी भाषा में अपना नाम 'टुआई' बतलाया और प्रगट किया कि वह पहिले व्यक्तित्व की सहायता के लिये आई है। टुआई फुर्तीली, प्रसन्न चित्त, अनोखी, हास्ययुक्त बात करने वाली लड़की थी। जब एल्मा ज़ेड के शरीर पर टुआई का प्रभुत्व होता था तो वह भलीभांति भोजन करती थी और कहती थी कि पहिले व्यक्तित्व (एल्मा ज़ेड) के लाभ के लिये वह भोजन कर रही है। टुआई के रहने की दशा में शारीरिक अवस्था में कितनी ही उन्नति प्रतीत होती थी। एल्मा ज़ेड (पहिले व्यक्तित्व) को टुआई के रहने के समय की कोई भी बात ज्ञात नहीं होती थी। इस प्रकार एक ही शरीर में दो भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व रहते थे[2]। भौतिक मस्तिष्क से

---

[1] उपरोक्त The Human Personality and its Survival of bodily death पैरा २२५

[2] लेखक ने स्वयं एक शरीर में दो भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व को देखा है।

एक ही परिस्थिति में दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?

(२) अद्भुत ज्ञान चमत्कार

कितने ही मनुष्यों के ऐसे उदाहरण हैं जो विस्मय में डालने वाली मानसिक शक्तियों का परिचय देते हैं। इन उदाहरणों में अधिकतर ऐसे वालकों के हैं, जो गणित सम्वन्धी कठिन प्रश्नों का उत्तर एकदम दे देते हैं, जिनका समाधान मनुष्य कागज पेंसिल द्वारा कितने ही समय में कर पाते हैं। मेयरस् महोदय ने अपनी उपरोक्त पुस्तक में ऐसे १३ उदाहरण दिये हैं जिनमें प्रसिद्ध गणितज्ञ गास (Gauss) व एम्पेयर (Ampere) के नाम भी हैं। उनमें से एक उदाहरण उद्धृत किया जाता है।

(क) वुद्धि चमत्कार

स्काटलैंड में एडिनवरा नगर के इंजिनियर श्री ब्लीथ (Blyth) ने, जव कि वह ६ वर्ष का वालक था, अपने पिता से अपने जन्म का समय

एक महिला के शरीर में दूसरी मृत महिला का व्यक्तित्व प्रवेश करके उस पर अपना प्रभुत्व जमा लेता था, दूसरी महिला के व्यक्तित्व के प्रभुत्व होने पर उसके वर्ताव, रहने व वोलने के ढंग, स्वभाव में वड़ा अन्तर हो जाता था। दूसरी महिला का व्यक्तित्व पहिली महिला के शरीर में कभी कई-कई दिन तक रहता था, भोजन आदि कार्य भी करता था, जव दूसरी महिला का व्यक्तित्व शरीर में से निकल जाता था तव पहिली महिला का व्यक्तित्व प्रगट हो जाता था। पहिली महिला को उस समय की—जव कि उसके शरीर में दूसरी महिला के व्यक्तित्व का प्रभुत्व होता था—किसी वात या कार्य का कुछ भी ज्ञान न होता था।

पूछा। पिता के दिन व घंटा वतलाने पर वालक ने एकदम कहा 'तव पिता जी मेरी आयु इतने सिकंड की है'; इस पर सिकंडों की गणना की गई और वालक के उत्तर में १,७२८०० सिकंडों का अन्तर पाया गया। वालक ने कहा कि आप गणना में दो लौंद (leap) के वर्षों को भूल गये हैं, लौंद के वर्षो को गणना में सम्मिलित कर लेने पर वालक का उत्तर ठीक निकला।[1] यह आश्चर्यकारी ज्ञान, आयु के अधिक होने पर प्रायः इन अद्भुत व्यक्तियों में से लुप्त हो जाता है। ये अद्भुत व्यक्ति अपनी गणना की उस शैली के वतलाने में असमर्थ रहे, जिससे ये अपने मन में इन प्रश्नों का हल कर लेते थे।

ऐसी अद्भुत ज्ञानशक्ति कितने ही वालक व मनुष्यों के भीतर विभिन्न कलाओं में भारतवर्ष में भी देखी जाती है।[2] श्रीमद् राजचन्द्र शतावधानी थे। जो भी वाक्य, चाहे कितने ही लम्बे व किसी अज्ञात भाषा में ही क्यों न हों, जव उनके सामने कहे जाते थे, वे उनको उसी क्रम से दोहरा देते थे। दो उदाहरण संगीतकला के भी वर्तमान काल में देखे गये हैं। मास्टर मनहर वरवे व मास्टर मदन[3] दो वालकों ने—जव कि वे ५ वर्ष के ही थे और उनके शव्दों का उच्चारण कठिनता से ही स्पष्ट हो पाया था—

[1] ज्योतिष शास्त्र के आचार्य स्ट्रेफोर्ड (Strafford) १० वर्ष की आयु में ३६ अंकों की गुणा १ मिनट में कर लेते थे। इसी प्रकार पादरी ह्वेटले (Bishop Whatley) ६ वर्ष से ९ वर्ष की आयु के भीतर वड़े-वड़े गणित के प्रश्नों को हल कर लेते थे।

[2] महात्मा गांधी ने स्वयं १८९१ में श्रीमद राजचन्द्र की परीक्षा की थी जो उन्होंने श्रीमद् राजचन्द्र पुस्तक की प्रस्तावना में लिखी है।

[3] लेखक ने मास्टर मदन का मधुर गान सन् १९१२ में प्रयाग में और मास्टर वरवे का सुरीला गान १९२१ में मुरादावाद में सुना था। गाना सुनने के समय इनमें से प्रत्येक की आयु ६ वर्ष की थी।

गाना प्रारम्भ किया। संगीतकला में इनकी योग्यता असाधारण थी। अनेक राग रागिनी से युक्त नाना प्रकार के वाद्यों के साथ, इनका सुरीला मधुर गान, श्रोताओं के हृदय को मोहित व गानकला-विशारदों के गर्व को चूर करता था। यह ज्ञानशक्ति इन व्यक्तियों में कहां से आई? विना पूर्व जन्म के स्वीकार किये इसका समाधान नहीं हो सकता।

(ख) भविष्यत का ज्ञान

कभी-कभी कोई व्यक्ति भूत काल में घटित घटना को—जिससे वह सर्वथा अपरिचित है—या भविष्य में होने वाली घटना को स्पष्ट देख लेता है। भविष्य में होने वाली एक ऐसी घटना अभी पत्रों में प्रकाशित हुई है जो उद्धृत की जाती है[1]:—

स्वेडन देश के स्टाकहोम नगर में हन्स क्रेज़र नामी क्लर्क, १९४० के जुलाई मास में, अपने चौथी मंजिल वाले कमरे में खिड़की के पास बैठा हुआ वाल्टिक सागर की शीतल वायु का सेवन कर रहा था। सामने वाले गृह की चौथी मंजिल के कमरे पर उसकी दृष्टि पड़ी। उसने एक परम सुन्दरी युवती को पुस्तक पढ़ते देखा। वह उसकी ओर देखने लगा, ताकि उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर ले।

अकस्मात् एक अभिनय दिखलाई पड़ा। उसने उस कमरे में एक अर्धवयस्क मनुष्य को प्रवेश करते देखा। उसे देखकर युवती भयभीत हुई और चिल्लाकर पुस्तक फेंक दी। एक मिनट के पश्चात् एक लम्बा चाक़ू हवा में चलते दिखाई पड़ा। उस मनुष्य ने उस युवती की हत्या कर डाली और वह महिला चिल्लाती हुई गिर पड़ी।

---

[1] यह घटना स्टाकहोम के डेजन्स नेहटर (Dagens Nyhter) पत्रसे उद्धृत करके हिन्दुस्तान टाइम्स नामी अंग्रेजी दैनिक पत्र के १९ मई १९४१ वाले अंक में प्रकाशित हुई है।

यह घटना इतनी शीघ्रता से हुई कि हन्स क्रेज़र सहायता के लिये चिल्ला भी नहीं सका। तनिक देर वाद अपने कमरे से निकला। ज़ीने से दौड़ते हुए उतरा। सड़क पार करके उस भवन में पहुंचा। गृहरक्षक को सव घटना सुनाई। पहिले तो वह गृहरक्षक विस्मित हुआ, फिर उपहास करने लगा। उसने समझा कि क्रेज़र पागल हो गया है क्योंकि वह कमरा जिसमें हत्या वाली घटना वतलाई गई थी, कई सप्ताह से वन्द था, कोई मनुष्य उसमें नहीं रहता था।

हन्स क्रेज़र की सान्त्वना के लिये उसको चौथी मंजिल के कमरे में ले जाया गया। वह विल्कुल खाली था। वहां से उसका कमरा स्पष्ट दिखाई देता था। गृहरक्षक ने पुलिस मैन को वुलाया और क्रेज़र वाली घटना का वर्णन किया। कान्सटेवल ने क्रेज़र को पागल समझकर फोन द्वारा रोगी की गाड़ी (Ambulance) मंगाई और उसको पागलखाने में भेज दिया।

एक सप्ताह पश्चात् एक दम्पति उस भवन की चौथी मंजिल के कमरे को किराये पर लेने के लिये आया। पुरुष व युवती का हुलिया व युवती के वस्त्र, पागल क्रेज़र के कथित वर्णन से मिलते थे। उस दम्पति ने वह कमरा किराये पर ले लिया। तीन मास पश्चात् गृहरक्षक से अन्य किरायेदारों ने कहा कि चौथी मंजिल वाले कमरे से—जिसमें वह दम्पति रहता था—चीखने की आवाज़ आई है। गृहरक्षक किरायेदारों के साथ उस कमरे में गया और उनकी सहायता से कमरा खोला। युवती मृत पड़ी थी और वह पुरुष स्तम्भित दशा में खड़ा था। उसको पुलिस के सुपुर्द कर दिया गया।

उस व्यक्ति ने स्वीकार किया कि ईर्षावश उसने अपनी पत्नी की हत्या कर डाली है। हत्या का विवरण विल्कुल वही था, जैसा कि क्रेज़र ने पहिले देखा था।

अव डाक्टरों की एक समिति क्रेज़र को पागलखाने से छुड़ाने का प्रयत्न

कर रही है, ताकि उसकी मानसिक चेष्टाओं का अन्वीक्षण किया जावे। यदि मनुष्य में भविष्यत् जानने की शक्ति नहीं है, तो यह कहां से आ गई ?

(३) स्वप्न

स्वप्न में प्रायः वे बातें स्मरण आया करती हैं, जिनका हम भूल गये हों या जिनपर जागृत अवस्था में हमारा ध्यान न गया हो। मेयरस् महोदय ने अपनी उपरोक्त पुस्तक में ऐसी कितनी ही घटनाओं का वर्णन किया है, जिनमें से निम्नलिखित घटनायें उद्धृत की जाती हैं :—

अमेरिका देश में पेनसिलेंवेनिया विश्वविद्यालय के आचार्य लेम्बरटन (Prof. Lamberton) एक समस्या का हल विना लिखे हुए मौखिक तौर पर करना चाहते थे, समाधान करने में असफल होकर, उन्होंने उस प्रश्न को छोड़ दिया। एक सप्ताह पश्चात् उन्होंने स्वप्न में उस समस्या का हल ज्यामित्री के ढंग पर दीवाल पर अंकित देखा।

श्री व्वायल (Boyle) ने—जो शिमला में अफसर थे—स्वप्न में अपने श्वसुर का—जिनके स्वास्थ्य सम्वन्ध में उन्हें कोई चिन्ता न थी—परलोक गमन इंगलैंड के ब्राइटन (Brighton) नगर में होते देखा। स्वप्न सत्य निकला। मृत्यु का समय विल्कुल मिलता था।

मृत्यु के सम्वन्ध में हम में से कितने ही मनुष्यों का अनुभव है कि उन्होंने स्वप्न में दूर देश स्थित अपने प्रिय जनों की—जिनके स्वास्थ्य, या मृत्यु के सम्वन्ध में उन्हें किसी प्रकार की भी चिन्ता न थी—मृत्यु होते देखा। वाद को ज्ञात हुआ कि उनके प्रिय जन की मृत्यु ठीक उसी स्थान, समय व ढंग पर हुई है, जैसा कि उन्होंने स्वप्न में देखा था।

ये अनुभव जो जागृत अवस्था में विद्यमान न थे, भौतिक मस्तिष्क से कैसे उत्पन्न हो गये ?

(४) हिप्नोटिज़्म (Hypnotism)

यह ऐसी चमत्कारिक मानसिक क्रिया है, जिसको केवल भौतिक पदार्थ का मानने वाला व्यक्ति समझने में असमर्थ है। आरम्भ में इसके प्रयोगों का—'धोखे की कहानियां' कहकर—उपहास व तिरस्कार किया गया था। परन्तु अब हिप्नोटिज़्म व उसके प्रयोगों में किसी को सन्देह नहीं रहा। अब यह स्वीकृत विषय बन गया है।

सबसे प्रथम फ़्रांसीसी डाक्टर मेसमर (Mesmer) महोदय ने इस बात का पता लगाया कि मनुष्य अपने मानसिक प्रभाव को दूसरे व्यक्ति पर डाल सकता है और इसके द्वारा सिर दर्द आदि अनेक रोगों का उपचार किया जा सकता है। इसके पश्चात् डाक्टर एसडेल[1] (Esdaile) ने कलकत्ता नगर के अस्पताल में सैकड़ों रोगियों को अपने मानसिक प्रभाव से अचेत करके उनपर आपरेशन (चीर फाड़) किये।

हिप्नोटिज़्म द्वारा बालकों को शिक्षित किया जा सकता है। उनकी बुराई व दोष दूर किये जा सकते हैं। एक बालक की यह कुटेव पड़ गई थी कि बिना उंगुलियों के चूसे हुए उसको नींद नहीं आती थी। उसकी यह कुटेव हिप्नोटिज़्म के प्रयोग द्वारा नष्ट हो गई। जब किसी व्यक्ति पर हिप्नोटिज़्म के प्रयोग किये जाते हैं, तो उस व्यक्ति की ज्ञानशक्ति विकसित हो जाती है। आंखों पर पट्टी बांधकर हाथ से टटोल कर वह व्यक्ति रंगों को पहचान सकता है। ऐसी दशा में उस व्यक्ति से जो कुछ कहा जाता है, उसी के अनुसार वह कार्य करने लगता है।

मनुष्य में ज्ञान के कई स्तर (तह, Layers) कहे जा सकते हैं, जिनमें से कुछ स्तर सुषुप्ति दशा में पड़े रहते हैं। जब किसी व्यक्ति पर हिप्नो-

---

[1] उपरोक्त पुस्तक The human personality and its Survival of bodily death का पैरा ५०७

टिज़्म के प्रयोग किये जाते हैं, तो उसके ज्ञान के सुषुप्त स्तर प्रकाश में आ जाते हैं और ऊपर वाले जागृत स्तर शान्त सुषुप्त दशा को पहुंच जाते हैं। उस व्यक्ति के सुषुप्त ज्ञान स्तरों के जागृत होने के कारण ही, वह हिप्नोटिज़्म करने वाले मनुष्य के प्रभाव को ग्रहण कर लेता है; उसकी शिक्षा व आदेश को मानता है। इसी कारण उसकी कुवृत्तियां सदा के लिये नष्ट हो जाती हैं एवं उसके रोग दूर हो जाते हैं। ये मानसिक शक्तियां भौतिक मस्तिष्क से कैसे उत्पन्न हो सकती हैं?

(५) चमकीले पदार्थ पर दृष्टि जमाना

विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिये किसी चमकते हुए पदार्थ पर टकटकी लगाकर देखने की प्रथा संसार के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में वहुत काल से चली आ रही है। इस कार्य के लिये विल्लौर, दर्पण, पालिश किया हुआ लोहा, जल से भरा हुआ वर्तन या किसी और चमकते हुए पदार्थ का प्रयोग किया जा सकता है। यह कहा जाता है कि कोई व्यक्ति, विशेषकर वालक, यदि किसी चमकते हुए पदार्थ पर टकटकी लगाकर ध्यानपूर्वक देखे, तो उसके समक्ष भूत एवं भविष्यत घटनाओं के दृश्य आने लगते हैं। इन घटनाओं की परीक्षा वैज्ञानिक ढंग से की गई है।

एक वार एक ऐसे ही चमकते पदार्थ के दर्शक ने सर जोज़फ़ वार्नवी[१] (Sir Joseph Barnby) से एक ऐसी ही घटना में देखी हुई महिला का वर्णन किया, जो विशेष प्रकार के वस्त्र पहिने हुए थी। वर्णन से वार्नवी महोदय ने उस महिला को अपनी पत्नी समझा; परन्तु वह उस प्रकार के आभूषण नहीं पहिनती थी, इसलिये उसको उस कथा पर विश्वास नहीं हुआ। घर लौटने पर यह देखकर आश्चर्यान्वित हो गया

---

[१] उपरोक्त पुस्तक से उद्धृत।

कि श्रीमती वार्नवी कथित विशेष प्रकार के ही वस्त्र पहिने हुई थी। ये वस्त्र उसने इस बीच में मोल ले लिये थे। बिल्लोर के दर्शक ने १८ मास पश्चात् भीड़ में श्रीमती वार्नवी को वे ही वस्त्र पहिने हुए देखा और तत्काल ही पहिचान लिया कि यह वही महिला है, जिसको उसने बिल्लौर में देखा था।[१] दर्शक ने जब यह दृश्य पहिले नहीं देखा था, तो उसके मस्तिष्क ने कहां से उत्पन्न कर दिया!

(६) विचार प्रेषण (Telepathy)

प्राचीन काल से कहावत चली आती है कि दूरस्थित उच्च आत्माओं तक हम अपनी भावनायें बिना किसी बाह्य सहायता के पहुंचा सकते हैं, जैसा कि प्रार्थना में। यदि यह बात सत्य है, तो यह मानना असंगत न होगा कि एक ही स्थिति वाली दूरस्थित दो आत्मायें भी परस्पर विचारों का परिवर्तन कर सकें। इन घटनाओं की सत्यता का निर्णय अनुसन्धान द्वारा वर्तमान काल में किया गया है।

श्री गरनी (Gurney) ने लिवर पूल के न्यायाधीश श्री गठरी (Mr. Guthrie, J. P. of Liverpool) के बहुत से अनुसन्धानों[२] को लेखबद्ध किया है। गठरी महोदय इन बातों में पहिले विश्वास नहीं करते थे। इन अनुसन्धानों में रंग, रेखागणित की

---

[१] उपरोक्त पुस्तक में निम्नलिखित घटना भी दी हुई है :—मिस ए० गुडरिच्छ फ्रियर (Miss A. Goodrich Freer) को एक बार बिल्लौर पर टकटकी लगाकर देखने से बाढ़ पर लगी हुई बहुत लम्बी मीठी मटर का दृश्य दिखलाई दिया। कुछ समय के पश्चात् पड़ोसी के बाग़ में जाने पर—जिसमें वह पहले कभी नहीं गई थी—बड़ी लम्बी मटर वाली बाढ़ सामने दिखलाई पड़ी।

[२] उपरोक्त पुस्तक के पैरे ६३० व ६६८

शक्लें, ताश व अन्य पदार्थों की भावनाओं को दूर प्रेषित किया गया था। निश्चित समय पर श्री गठरी ने एक स्थान पर स्थिर होकर एवं अपने मन को एकाग्र करके पूर्ण संकल्प शक्ति के द्वारा इन वस्तुओं की भावनाओं को दूसरे स्थान पर स्थित मनुष्य तक प्रेषण करना प्रारम्भ किया। इस दूसरे व्यक्ति ने बिना अपनी बुद्धि को प्रयोग में लाये हुए, यंत्र की भांति चित्र खींचना प्रारम्भ किया। ये चित्र श्री गठरी की प्रेषित वस्तुओं की भावनाओं से मिलते जुलते थे। लगभग १५० अनुसन्धान एक मास में गठरी महोदय ने किये थे। उन्होंने उन चित्रों को सम्हाल कर रखा है। इनमें से कुछ चित्र मेयरस् महोदय की उपरोक्त पुस्तक में मुद्रित हैं। इन चित्रों के देखने से ज्ञात होता है कि ये अटकल या अकस्मात् नहीं बने हैं।

इसके पश्चात् सर आलीवर लाज (Sir Oliver Lodge) ने श्री गठरी के साथ मिलकर पुनः स्वतंत्र अनुसन्धान किये और उपरोक्त घटनाओं को सत्य पाया।

उपरोक्त भावनाओं के प्रेषित करने के अतिरिक्त कुछ ऐसी घटनायें हैं, जिनमें मनुष्य का भौतिक शरीर उसी स्थान पर रहते हुए भी, उसका व्यक्तित्व दूसरे स्थान तक चला जाता है, परन्तु उस व्यक्ति को इसका पता भी नहीं लगता है। मिश्र देश के काहरा (Cairo) नगर के होटल में दो अंग्रेजी महिलायें[1] एक रात्रि को सो रही थीं। जब वे जागृत अवस्था में थीं, उन्होंने एक अंग्रेज मित्र को—जो उस समय इंगलैंड में विद्यमान था—देखा। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि उनका मित्र उस दिन बड़ा ही चिन्तित था और अग्नि के पास बैठा हुआ कुछ परामर्श करने के लिये, उनमें से एक महिला से मिलने के लिये बड़ा उत्सुक था।

---

[1] उपरोक्त पुस्तक का पैरा ६६५

पादरी गाडफ़्रे (Rev. Godfrey) ने विचार प्रेषण (Telepathy) की बातों से प्रभावित होकर स्वयं अनुसन्धान करने का संकल्प किया। एक रात्रि को शय्या पर स्थित होकर, मन को एकाग्र करके, उन्होंने एक दूर स्थित मित्र महिला के सम्मिलन पर अपने ध्यान को पूर्ण संकल्प के साथ लगाया। कुछ मिनट तक ध्यान लगाने पर उनको नींद आ गई। प्रातःकाल जागने पर उन्हें प्रतीत हुआ कि वे अपनी मित्र महिला से मिल लिये हैं। इस अनुसन्धान का तनिक सा भी संकेत उन्होंने अपनी मित्र महिला से पहिले नहीं किया था। दूसरे दिन पता लगने पर यह सुनकर स्तम्भित रह गये कि उनकी मित्र महिला ने उसी रात्रि को उन्हें जीने पर खड़ा हुआ प्रत्यक्ष देखा था; मोमवत्ती दिखलाने पर वे एकदम अदृश्य हो गये। उन्होंने यह अनुसन्धान दुबारा भी किया और उसमें भी सफल हुए। इससे स्पष्ट है कि न केवल भावनायें ही वरन् मनुष्य का व्यक्तित्व भी, उसके भौतिक शरीर के वहीं रहते हुए दूसरे स्थान तक प्रेषित किया जा सकता है।

इन भिन्न-भिन्न घटनाओं को वड़ी कुशलता के साथ श्री मेयरस् व अन्य विद्वानों ने अनुसन्धान करके पुस्तकों में संगृहीत किये हैं, जिनकी सत्यता में किसी को भी सन्देह नहीं होना चाहिये। इन घटनाओं का सन्तोषप्रद उत्तर वैज्ञानिक अपने भौतिक विज्ञान के आधार पर देने में असमर्थ हैं। इनका उत्तर अध्यात्म तत्व के आधार पर ही दिया जा सकता है।

(७) क्या शारीरिक मृत्यु होने पर मनुष्य का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है?

इस विषय में वैज्ञानिक श्री मेयरस् (Meyers), सर विलियम क्रूक्स (Sir William Crooks), सर आर्थर कानन डायल (Sir Conan Doyle) एवं प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर आलीवर लाज

(Sir Oliver Lodge)—जो रायल सोसाइटी के अध्यक्ष भी रहे हैं—ने बहुत से अनुसन्धान किये हैं। इन अनुसन्धानों से आत्मा का शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहना प्रमाणित होता है। ये अनुसन्धान दो प्रकार के हैं :—

(क) जिनमें मनुष्य की आत्मा मृत्यु के पश्चात् फिर मनुष्य जन्म धारण करता है।

(ख) जिनमें मनुष्य की आत्मा मृत्यु के पश्चात् प्रेत योनि में जन्म लेता है।

(क) मनुष्य योनि में जन्म

पुनर्जन्म के बहुत से उदाहरण पाश्चात्य विद्वानों ने संगृहीत किये हैं। भारतवर्ष में मृत्यु के पश्चात् पुनः मनुष्य योनि में जन्म लेने की कितनी ही घटनायें होती रहती हैं। अभी सन् १९२६ की बात है कि युक्तप्रान्त के बरेली नगर में श्री केकयनन्दन वकील के एक पुत्र उत्पन्न हुआ।[१] जब यह बालक ५ वर्ष का हुआ और बोलना सीख गया, तो वह अपने पूर्व जन्म की बातें कहने लगा कि पूर्व जन्म में मैं बनारस निवासी बबुआ पांडे का पुत्र था। उस बालक के पिता श्री केकयनन्दन, कई मित्रों के साथ, उस बालक को बनारस ले गये और बालक के बतलाये हुए स्थान पर पहुंचे। उस समय बनारस के ज़िलाधीश श्री वी० एन० मेहता (Mr. V. N. Mehta) भी उपस्थित थे। बालक बबुआ महाराज तथा उस मोहल्ले के एकत्रित सज्जनों को उनके नाम ले-ले कर पुकारने लगा और उनसे मिलने की उत्सुकता प्रगट करने लगा। अपने पूर्व जन्म

[१] इलाहाबाद के प्रसिद्ध दैनिक पत्र लीडर (Leader) में ये समाचार छपे थे और लेखक ने स्वयं बरेली जाकर इसकी सत्यता का निश्चय किया था।

के गृह तथा बहुत सी वस्तुओं को पहिचान लिया और अनेक प्रश्न पूछने लगा कि अमुक-अमुक वस्तुयें कहां-कहां हैं और कैसी हैं। उस बालक का बतलाया हुआ पूर्व जन्म का समस्त वृत्तान्त बिल्कुल सत्य निकला। यह बालक अब भी जीवित है, परन्तु पूर्व जन्म की अब उसकी स्मृति नष्ट हो गई है।

(ख) प्रेतयोनि में जन्म

मनुष्य की आत्मा का मृत्यु के पश्चात् प्रेत योनि में जाकर अपने सम्बन्धी एवं मित्रों को दिखलाई देने व वार्तालाप करने के सम्बन्ध में श्री मेयरस् व श्री गरनी ने बहुत से अनुसन्धान किये हैं, जो उपरोक्त पुस्तक में अंकित हैं। ऐसी बहुत सी घटनायें भारतवर्ष में भी होती रहती हैं और उनमें से अनेक समाचार पत्रों में भी मुद्रित हुई हैं, परन्तु उनकी सत्यता वैज्ञानिक अनुसन्धान की कसौटी पर नहीं जांची गई। इसलिये उनका विवरण नहीं दिया जाता है। कुछ घटनायें उपरोक्त पुस्तक से उद्धृत की जाती हैं:—

१. प्रेतयोनि में उत्पन्न होकर दिखलाई देना

केप्टेन कोल्ट (Captain Colt)[1] का एक भाई सेना में था जो सेवसटोपल स्थान पर युद्ध कर रही थी। उनमें प्रायः पत्र व्यवहार हुआ करता था। एक बार जब उसका भाई उदास था, तो केप्टेन कोल्ट ने उसको लिखा कि तुम प्रसन्न रहो, उदासी को पास मत आने दो; यदि कोई विशेष बात हो, तो स्काटलैंड में आकर मुझसे मिलो। कुछ दिनों के पश्चात् एक रात्रि को केप्टेन सहसा जाग उठा और अपने भाई की छाया को देखा। उसके चारो ओर पीला कोहरा सा था। वह पलंग के पास घुटने टेक रहा था। वह छाया केप्टेन के सिर के चारों ओर घूमी और

---

[1] उपरोक्त पुस्तक का पैरा ७२५ (ग)

उसकी ओर प्रेम भरी चिन्तित दृष्टि से देखती रही। केप्टेन ने उसकी दाहिनी कनपटी पर एक घाव देखा, जिससे रक्तधारा वह रही थी। एक पक्ष वाद केप्टेन को सूचना मिली कि उसके भाई की मृत्यु हो गई है; उसका शव घुटने टेकती हुई अवस्था में पाया गया था, उसकी कनपटी पर गोली का घाव था और उसकी जेव में केप्टेन का उपरोक्त पत्र भी था।

२. प्रेत योनि में उत्पन्न होने के कितने ही समय पश्चात् दिखलाई देना

केप्टेन टाउन्स[1] (Captain Towns) की मृत्यु के पश्चात् एक रात्रि को उनकी पुत्री ने अपनी महिला मित्र के साथ शयनगृह में प्रवेश किया, जिसमें गैस का प्रकाश हो रहा था। यह देखकर वह स्तम्भित रह गई कि मृत पिता का प्रतिविम्व तोशखाने की चमकती हुई दीवाल पर पड़ रहा है। उस कमरे में उनका कोई चित्र न था, इसलिये यह प्रतिविम्व किसी चित्र का नहीं हो सकता था। चार सेवकों को वुलाया गया; उन्होंने भी प्रतिविम्व को देखकर अपने मृत स्वामी को पहिचान लिया। अन्त में श्रीमती टाउन्स को भी वुलाया गया। उन्होंने भी प्रतिविम्व को स्पष्ट तौर पर देखा और उसको स्पर्श करने के लिये आगे वढ़ीं, तो वह प्रतिविम्व धीरे-धीरे लुप्त हो गया।

३. प्रेत वोलते भी हैं

दयागृह की अधिष्ठात्री वहिन वरथा[2] (Sister Bertha Superior of the House of Mercy) के सम्वन्ध में एक

---

[1] उपरोक्त पुस्तक का पैरा ७४१

[2] उपरोक्त पुस्तक का पैरा ७४३ (अ)

घटना अंकित की गई है। उन्होंने यह वाक्य सुना कि "मैं आपके पास हूँ"। स्वर से उन्होंने पहिचाना कि ये शब्द उनकी मित्र व शिष्या मिस लूसी (Miss Lucy) के हैं। किसी को न देखकर वहिन वरथा ने पूछा कि 'आप कौन हैं'? उत्तर मिला कि "आपको अभी ज्ञात नहीं होना चाहिये"। दूसरे दिन उन्हें ज्ञात हुआ कि मिस लूसी की मृत्यु उसकी छाया आने के १२ घंटे पूर्व हो चुकी थी।

४. प्रेतों का गृहवास

एक श्रीमती एम[1] (M) थीं। उनको यह ज्ञात न था कि उनके नवीन गृह में प्रेतों का वास है। एक रात्रि को सोते हुए उसने सिसकने की ध्वनि सुनी। सिसकने की ध्वनि लगातार होते रहने पर, उसने खिड़की खोली। उसको बाहर घास पर एक परम सुन्दरी युवती दिखलाई दी, जो फ़ौजी वस्त्रों से युक्त एक सेनाध्यक्ष के सामने घुटने टेक रही थी। यह दृश्य देखकर श्रीमती एम ज़ीने से नीचे गईं और युवती से कहा कि मेरे पास आकर अपने दुःख की कहानी कहो। इतने में वे मूर्त्तियां अदृश्य हो गईं। कुछ समय के पश्चात् ज्ञात हुआ कि वह गृह एक प्राचीन स्वाभिमानी परिवार का था। उस गृहवासिनी एक युवती की हत्या की गई थी। हत्यारा सेनाध्यक्ष उसका पिता था। उससे उस युवती ने क्षमा-याचना की थी, परन्तु वह अस्वीकृत की गई थी। कुछ महीनों के पश्चात् श्रीमती एम ने उस सेनाध्यक्ष का चित्र देखा। चित्र देखते ही पहिचान लिया कि यह उसी पुरुष का चित्र है, जिसको उसने उस रात्रि की घटना में देखा था।

---

[1] उपरोक्त पुस्तक का पैरा ७४५ (आ)

५. प्रेतयोनि में शरीर मनुष्य के शरीर सदृश मूर्त्तिक नहीं होता

निम्नलिखित घटना[1] बड़ी महत्वपूर्ण है, इसकी सत्यता भलीभांति जांच की गई है :—मिस मार्टन (Miss Morton) ने गृह में वास करने वाली प्रेत महिला को कई वार देखा था। यह परीक्षा करने के लिये कि क्या प्रेतों का मनुष्य के सदृश भौतिक शरीर होता है, उसने जीने की सीढ़ियों पर कुछ उत्तम लचकदार तार इस भांति लगा दिये कि यदि उनपर होकर कोई जावे, तो वे तत्काल ही गिर पड़े, परन्तु वे दिखलाई न दें। प्रेत महिला उन तारों पर होकर आई, परन्तु उन तारों में से किसी भी तार में ठसक नहीं लगी। मिस मार्टन ने उस प्रेत की छाया को स्पर्श करने के कई वार प्रयत्न किये, परन्तु सावधानी-पूर्वक प्रयत्न करने पर भी वह सफल न हो सकी। उसने यह भी प्रयत्न किया कि उस प्रेत की छाया को रोक ले, परन्तु वह प्रेत खुले या बन्द द्वार में से बड़ी सरलता के साथ यकायक निकलकर अदृश्य हो जाता था।

उपरोक्त घटनाओं के अतिरिक्त मेज़ के ऊपर उठने, हल्के होने तथा विना किसी वाहरी सहायता के स्वयं लिखने आदि के बहुत से अनुसन्धान सर आलीवर लाज आदि कितने ही वैज्ञानिकों ने किये हैं, जिनके द्वारा मनुष्य मृत आत्माओं से वातचीत कर सकता है। सम्भव है, इस सम्बन्ध में कुछ धोखा भी दिया गया हो। परन्तु इन घटनाओं की सत्यता की परीक्षा भलीभांति की जा चुकी है।

६. मृत आत्मा से वातचीत करना

प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर आलीवर लाज का पुत्र रेमंड (Reymond) गत यूरोपीय महासमर के सितम्बर सन् १९१५ में फ्लेंडरस्(Flanders)

---

[1] उपरोक्त पुस्तक का पैरा ७५१ (अ)

प्रदेश में मारा गया था। मृत्यु के समय रेमंड की आयु २६ वर्ष की थी। सर आलीवर लाज ने मृत आत्माओं से, विशेष कर, अपने पुत्र रेमंड की मृत आत्मा से बातचीत करने के बहुत से अनुसन्धान किये, जिनको उन्होंनें 'रेमंड मेथ्यून' (Reymond Methuen), 'विज्ञान व मानव उन्नति' (Science and Human Progress) एवं 'मैं क्यों आत्मा के अमरत्व में विश्वास करता हूं' (Why I believe in Personal Immortality) नामक तीन पुस्तकों में अंकित किये हैं। इन अनुसन्धानों से उनको विश्वास हो गया था कि शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा जीवित रहता है।

मेयरस्, सर आलीवर लाज, कानन डायल के अतिरिक्त रस्किन (Ruskin), एलफ्रेड रसल वालेस (Alfred Russel Wallace), सर विलियम क्रूक्स (Sir William Crooks), सर एडवर्ड मार्शल हाल (Sir Edward Marshal Hall) आदि अन्य प्रसिद्ध विद्वानों ने भी इन विषयों पर अनेक अनुसन्धान किये हैं। मनोविज्ञान समिति के उपरोक्त भिन्न-भिन्न अनुसन्धानों से भी स्पष्ट है कि मनुष्य में भौतिक शरीर के अतिरिक्त एक अन्य सूक्ष्म पदार्थ है, जिसको आत्मा कहते हैं। यह आत्मा ज्ञान की अद्भुत शक्तियों से भरपूर है और शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहता है।

५—आत्मा का वास्तविक स्वरूप

यह निर्णय हो जाने पर कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणी दो पदार्थ पुद्गल व आत्मा के बने हुए हैं, इन प्राणियों का दृश्य बाह्य भाग शरीर हाड़, मांस आदि भौतिक पदार्थों का बना है और इन प्राणियों का अन्तरंग भाग—जिसमें पदार्थों के देखने, जानने, हित-अहित विचारने, पूर्व काल की बातों के स्मरण रखने, संकल्प शक्ति व अनेक प्रकार की रागद्वेषादि भावनायें हैं—आत्मा (जीव) है, यह प्रश्न स्वभाविक ही उठता है कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, जो वर्तमान अवस्था में देखने, जानने रूप ज्ञान गुण, संकल्प शक्ति व अनेक प्रकार की काम क्रोध आदि भावनाओं के रूप में प्रतिभासित होता है। जीव के वास्तविक स्वरूप का निर्णय हो जाने पर आत्मा सम्बन्धी अन्य गूढ़ प्रश्नों का समाधान सरलता पूर्वक हो सकेगा।

(१) ज्ञान स्वरूप

यह निर्धारित किया जा चुका है कि मनुष्य में पदार्थ देखने जानने, हित-अहित पहिचानने, विचार करने, अतीत की बातें स्मरण रखने का ज्ञान गुण है।

पदार्थ का ज्ञान मनुष्य को ध्यानपूर्वक देखने, विचारने, गुरु या अन्य ज्ञानी पुरुष के उपदेश या पुस्तक के अध्ययन से प्राप्त होता है। यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य में यह ज्ञान कहां से आता है? क्या यह ज्ञान पदार्थ या पुस्तक में से निकल कर मनुष्य में प्रवेश कर जाता है? क्या इस ज्ञान को गुरु जी अपने ज्ञान में से पृथक करके शिष्य को प्रदान कर देते हैं? वस्तु या पुस्तक स्वयं ज्ञानशून्य है और भौतिक पदार्थ की बनी हुई है, इस-

लिये ज्ञान इसके भीतर से निकल कर नहीं आ सकता। गुरु जी यदि अपने ज्ञान में से कुछ अंश पृथक करके शिष्य को दे देते हैं, तो गुरु जी के ज्ञान में कुछ न्यूनता आ जानी चाहिये। अनुभव बतलाता है कि ज्यों-ज्यों आचार्य महोदय शिष्य को ज्ञान प्रदान करते हैं, त्यों-त्यों आचार्य व शिष्य दोनों के ज्ञान में वृद्धि होती है। इसलिये यह मानना पड़ता है कि यह ज्ञान गुरु जी के ज्ञान में से पृथक होकर शिष्य में नहीं आता है। गुरु, पुस्तक या अन्य वाह्य पदार्थ में से ज्ञान के न निकलने एवं मनुष्य में न प्रवेश करने से, इस परिणाम पर पहुँचने के लिये वाध्य होना पड़ता है कि यह ज्ञान मनुष्य के भीतर स्वयं अव्यक्त दशा में विद्यमान है और वस्तु के ध्यानपूर्वक देखने, विचारने, गुरु-उपदेश या पुस्तक के अध्ययन से मनुष्य का यह अव्यक्त ज्ञान विकसित होकर व्यक्त दशा को प्राप्त हो जाता है।

मानव समाज को ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि यह ज्ञान गुण प्रत्येक मनुष्य में एक सी मात्रा में नहीं पाया जाता। किसी की वुद्धि तीव्र होती है और किसी की मन्द। किसी की स्मरणशक्ति प्रवल है और किसी की निर्वल। कोई विद्वान है और कोई ठेठ गंवार। यदि एक मनुष्य गणित का पंडित है, तो दूसरा विज्ञान का वेत्ता, तीसरा दर्शन-शास्त्र का आचार्य, चतुर्थ आदि अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति आदि के विद्वान हैं। कोई व्यक्ति एक भाषा जानता है और कोई दूसरी भाषा। इस प्रकार ज्ञान गुण मानव समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न दशा, अवस्था व मात्रा में पाया जाता है। कोई भी ऐसे दो व्यक्ति दृष्टि-गोचर नहीं होते कि जिनमें ज्ञान गुण एकसी अवस्था व मात्रा में पाया जावे। ज्ञान की मात्रा प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न पाई जाती है।

यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति, जो पहिले किसी विषय से सर्वथा अनभिज्ञ है, प्रयत्न करने पर थोड़े समय में ही उस विषय का पारगामी हो जाता है। एक भारतवासी—जो अंग्रेजी भाषा से सर्वथा अपरिचित होता है—कुछ समय तक प्रयत्न करने पर उस भाषा (अंग्रेजी) का विद्वान

बन जाता है और अंग्रेजी भाषा में अपने विचारों को अंग्रेजों की भांति प्रगट करने लगता है। यदि कोई मनुष्य इतिहास से अनभिज्ञ है और वह इतिहासज्ञ बनना चाहता है, तो प्रयत्न करने पर धीरे-धीरे इतिहास के ग्रंथों का अध्ययन करता हुआ इतिहासवेत्ता बन जाता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति—जो किसी विषय से सर्वथा अनभिज्ञ है—प्रयत्न करने पर उस विषय का पंडित हो जाता है।

इस बात से कि कोई भी विषय—जो किसी मनुष्य के ज्ञानगोचर है—प्रयत्न किये जाने पर दूसरे मनुष्य के ज्ञानगम्य हो सकता है, प्रतीत होता है कि समस्त वस्तुयें व समस्त विषय—जो किसी भी व्यक्ति के ज्ञानगोचर हैं—ठीक प्रकार प्रयत्न किये जाने पर दूसरे व्यक्ति के भी ज्ञानगम्य हो सकते हैं। इस विवेचन से इस सिद्धान्त पर पहुंचा जाता है कि इन दोनों व्यक्तियों में ज्ञानशक्ति बराबर है, परन्तु इस ज्ञानशक्ति का विकास इन दोनों में भिन्न-भिन्न है। जिस व्यक्ति में ज्ञान की मात्रा न्यून है, वह व्यक्ति अपनी ज्ञानशक्ति को, उचित साधन द्वारा विकसित करके, दूसरे व्यक्ति की ज्ञानशक्ति के विकास के बराबर कर सकता है। जो सिद्धान्त इन दो व्यक्तियों के लिये स्थिर होता है, वही सिद्धान्त उपरोक्त युक्ति द्वारा मानव समाज के समस्त व्यक्तियों के लिये स्थिर होगा। इस विवरण से यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि मानव समाज के प्रत्येक व्यक्ति में ज्ञानशक्ति बराबर है, परन्तु इस ज्ञानशक्ति का विकास भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न है। जिन व्यक्तियों में ज्ञानशक्ति का विकास कम है, प्रयत्न करने पर उनकी ज्ञानशक्ति के विकास में वृद्धि हो सकती है।

मानव समाज के समस्त व्यक्तियों में ज्ञानशक्ति एकसी होने से स्पष्ट है कि एक मनुष्य यदि उसके मार्ग में व्याधि, रोग, मृत्यु आदि आपत्तियां उपस्थित न हों और उचित साधन उसको प्राप्त होते रहें, तो वह मनुष्य उन समस्त विषय एवं पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, जो किसी दूसरे व्यक्ति को प्राप्त है, पूर्व काल में प्राप्त था या भविष्य में प्राप्त होगा।

ऐसी कोई वस्तु हो नहीं सकती, जो किसी भी व्यक्ति के ज्ञानगोचर न हो। यदि कहा जावे कि ऐसे अज्ञात पदार्थ विद्यमान हैं, जो किसी भी व्यक्ति के ज्ञानगोचर न थे, न हैं और न होंगे, तो उस कहने वाले व्यक्ति से (प्रत्युत्तर में) पूछा जा सकता है कि ऐसे अज्ञात पदार्थों की—जो किसी भी व्यक्ति के ज्ञानगम्य नहीं हैं—सत्ता का प्रमाण ही क्या है? यदि सत्ता का प्रमाण है, तो ये पदार्थ अज्ञेय की श्रेणी से निकल कर ज्ञेय की श्रेणी में आ जाते हैं और उनका ज्ञान मनुष्य को हो सकता है। यदि इनकी सत्ता का कोई प्रमाण नहीं है, तो यही मानना पड़ता है कि ये पदार्थ कल्पित हैं, इनका कोई अस्तित्व वास्तव में नहीं है।

इन बातों से—कि मनुष्य उचित प्रयत्न करने पर समस्त पदार्थ व विषयों का ज्ञाता हो सकता है और यह ज्ञानशक्ति मनुष्य में अव्यक्त दशा में पहिले ही से विद्यमान है—स्पष्ट है कि मनुष्य में स्वभाव से ही सम्पूर्ण पदार्थों के जानने की शक्ति अव्यक्त दशा में विद्यमान है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य में सर्वज्ञता का गुण शक्ति रूप से अव्यक्त दशा में विद्यमान रहता है। इस अव्यक्त ज्ञानशक्ति के न्यून या अधिक विकसित होने के कारण ही, भिन्न-भिन्न मनुष्यों के ज्ञान में इतना अधिक अन्तर पाया जाता है। इस अव्यक्त ज्ञानशक्ति के पूर्ण विकसित होने पर, मनुष्य सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ हो सकता है।

हस्ति आदि बड़े-बड़े पशुओं में भी वस्तु देखने, विचारने, हित-अहित पहिचानने व स्मरण रखने की शक्ति पाई जाती है। परन्तु यह ज्ञान-शक्ति मनुष्य की अपेक्षा पशुओं में न्यून मात्रा में है, जिससे ज्ञात होता है कि पाशविक जीवन में ज्ञान का विकास बहुत कम है। पक्षी, जलचर कीट पतंग आदि छोटे-छोटे जन्तुओं में तो इस ज्ञानशक्ति का विकास और भी कम है। जो अव्यक्त ज्ञानशक्ति युक्ति से मनुष्य में सिद्ध होती है, वही ज्ञानशक्ति अव्यक्त दशा में पशु, पक्षी आदि जीवों में भी माननी

होगी। इसलिये प्रत्येक जीव में सर्वज्ञता का गुण अव्यक्त दशा में स्वभाव से ही मानना होगा।

जिस प्रकार सांसारिक मनुष्य में विविध विषयों का ज्ञान एक ही साथ एकही समय में विद्यमान रहता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ में भी समस्त पदार्थ व विषयों का ज्ञान एक साथ, एक ही समय विद्यमान रहता हुआ मानना होगा।

अन्य प्रकार विचारने से भी उपरोक्त परिणाम पर पहुंचा जाता है। सांसारिक दशा में आत्मा, वाह्य पदार्थों का ज्ञान, नेत्र आदि इन्द्रिय एवं मस्तिष्क की सहायता से प्राप्त करता है। जब यह आत्मा उचित प्रयत्न करने पर पूर्ण विकसित व शुद्ध हो जावेगा और उसको वाह्य इन्द्रिय व मस्तिष्क की आवश्यकता नहीं रहेगी, उस समय यह आत्मा, विना वाह्य इन्द्रिय व मन की सहायता के, अपने दिव्य ज्ञान से संसार के समस्त पदार्थों को जान सकेगा। सांसारिक दशा में इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान सीमित है। नेत्र आदि इन्द्रियों की पहुंच कुछ क्षेत्र व वर्तमान काल तक परिमित है, अधिक दूरी एवं अविद्यमान वस्तु का ज्ञान इनकी शक्ति से वाहर है। मन अनुमान द्वारा भूत व भविष्यत की वातों का ज्ञान प्राप्त करता है, परन्तु यह ज्ञान पूर्णतया निर्मल, स्वच्छ या निस्सन्देह नहीं होता, भ्रम होने की आशंका रहती है। जब ज्ञान दिव्य होकर अतीन्द्रिय हो जाता है, इन्द्रिय सहायता की आवश्यकता नहीं रहती एवं उनके प्रयोग को छोड़ देता है, उस समय ज्ञान असीमित व अनन्त हो जाता है। उस ज्ञान को सीमित करने वाली कोई वस्तु या रुकावट नहीं रहती। उस दिव्य ज्ञाता की दृष्टि में अतीत, अनागत एवं दूरवर्ती पदार्थ उसी प्रकार प्रतिभासित होते हैं, जैसे कि वर्तमान काल सम्बन्धी समीपवर्त्ती वस्तु। इस प्रकार वह अपने दिव्यज्ञान से भूत, भविष्यत, वर्तमान काल सम्बन्धी त्रिकालवर्त्ती समस्त पदार्थों को जान सकेगा। इस दृष्टि से भी आत्मा में सर्वज्ञता का गुण शक्ति रूप से सिद्ध होता है।

आत्मा के ज्ञान स्वभाव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए, इस ज्ञान स्वभाव को दो अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है :–

(१) दर्शन—मनुष्य जब किसी पदार्थ को नेत्र के द्वारा देखता या उसका अनुभव अन्य इन्द्रियों के द्वारा करता है, तो पहिले उस मनुष्य को उस पदार्थ का आभास मात्र ज्ञान होता है। इस आभास मात्र ज्ञान को दर्शन कह सकते हैं।

(२) ज्ञान—विचारना, अनुभव करना, स्मरण रखना आदि ज्ञान की समस्त अवस्थायें जो पदार्थ के प्रथम दर्शन (आभास मात्र ज्ञान) के पश्चात् होती हैं। इन समस्त ज्ञान अवस्थाओं को ज्ञान शब्द से ही पुकार सकते हैं। इस प्रकार आत्मा के ज्ञान स्वभाव को दर्शन व ज्ञान दो स्वभावों में विभक्त किया जा सकता है।

(२) आनन्द स्वरूप

मनुष्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए निश्चय किया जा चुका है कि मनुष्य में काम क्रोध आदि अनेक प्रकार की वासना व भावनायें पाई जाती हैं। यह ज्ञात करना आवश्यक है कि क्या ये समस्त भावनायें आत्मा के स्वभाव रूप हैं? यदि ये भावनायें आत्मा के स्वभाव रूप नहीं हैं, तो क्या ये आत्मा के किसी विशेष स्वरूप या स्वभाव के विकृत रूप हैं? यदि ये भावनायें आत्मा के किसी विशेष स्वभाव के विकार या विभाव हैं, तो आत्मा का वह विशेष स्वभाव क्या है? जो विकृत होकर काम क्रोध आदि अनेक प्रकार के विभावों में प्रदर्शित हो रहा है।

मनुष्य में विद्यमान काम, क्रोध आदि भावनाओं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि किसी भी व्यक्ति में ये समस्त भावनायें एक ही साथ, एक ही समय में, नहीं पाई जाती हैं। इन भावनाओं में से एक या अधिक भावना प्रति समय विद्यमान रहती हैं। मनुष्य जब क्रोधित होता है, तो क्षमा, दया आदि शुभ भावनायें उस समय दिखलाई नहीं देतीं। जब

कोई व्यक्ति अपने बल, धन, ऐश्वर्य आदि से गर्वोन्वित होता है, उस समय उसमें नम्रता के भाव नहीं पाये जाते। मनुष्य जब शोक से व्याकुल या भय से कम्पित होता है, उस समय उसमें प्रसन्नता के भाव विद्यमान नहीं रहते। जब किसी व्यक्ति के हृदय में किसी रोगी, दुखी, अबला की करुणाजनक अवस्था देखकर दया के भावों का संचार होता है, उस समय उसके हृदय में से निर्दयता, कठोरता के भाव लुप्त हो जाते हैं। जब किसी मनुष्य का हृदय, किसी सुखद समाचार के सुनने पर हर्ष से प्रफुल्लित हो उठता है, उस समय उसके हृदय से दुख, शोक, भय आदि भावनायें कूच कर जाती हैं। यही दशा अन्य भावनाओं के सम्बन्ध में भी है। इस प्रकार काम, क्रोध आदि समस्त वासना व भावनायें एक साथ, एक ही समय में, किसी भी व्यक्ति में नहीं देखी जाती हैं। यह अवश्य है कि मनुष्य में कोई न कोई, एक या अधिक भावनायें प्रत्येक समय विद्यमान रहती हैं।

इन भावनाओं की परिणति में सदैव परिवर्तन होता रहता है। कोई भी भावना स्थिर नहीं रहती है। यदि कोई मनुष्य एक समय क्रोधित होता है, तो कुछ देर पश्चात् उसका क्रोध शान्त हो जाता है। उसके हृदय में पश्चात्ताप, आत्मग्लानि आदि के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। इन परिवर्तनशील भावनाओं को आत्मा का स्वरूप या स्वभाव नहीं कहा जा सकता। स्वभाव वस्तु का वह गुण है, जो उस वस्तु में सदैव विद्यमान रहे, किसी न किसी अंश में अवश्य पाया जावे, उस (वस्तु) से किसी अवस्था में भी पृथक न हो। इसलिये इन परिवर्तनशील भावनाओं को आत्मा का विभाव (आत्मा के स्वरूप का विकृत रूप) मानना होगा। इस दशा में यह प्रश्न स्वभाविक ही उठता है कि आत्मा का वह क्या स्वरूप है, जो काम, क्रोध आदि अनेक प्रकार के विभावों द्वारा प्रदर्शित हो रहा है।

इन काम, क्रोध आदि भावनाओं के अन्तर्गत दुख या सुख की भावना

उठता है। उसको प्रतीत होता है कि सुख उच्च पद प्राप्त करने में ही है। उच्च पद प्राप्त करने की इच्छा से सभा सोसाइटी में सम्मिलित होता है, म्यून्सिपल बोर्ड, कौंसिल आदि की मेम्बरी के लिये खड़ा होता है, कलक्टर कमिश्नर से मिलता है, डाली देता है। कौंसिल आदि का मेम्बर बनकर, सर्कार द्वारा रायबहादुरी आदि का पद प्राप्त करके, फूला नहीं समाता है। अपने को साधारण जनता से ऊंचा समझ कर मन ही मन में प्रसन्न होता है। कितने ही समय तक यश की वृद्धि करने वाली मेम्बरी, सर्कारी पद आदि के चक्कर में पड़ा रहता है, वृद्ध होने पर मृत्यु का दृश्य नेत्रों के सामने आने लगता है, अब उसका हृदय सांसारिक किसी पदार्थ में नहीं लगता है, भविष्य की चिन्ता आकर घेरने लगती है।

उपरोक्त अवस्थाओं पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि उस व्यक्ति के सुख का केन्द्र सदैव बदलता रहता है। शैशव काल में माता की गोदी में, बाल्य अवस्था में खिलौने में, छात्र अवस्था में पुस्तकों में, यौवन अवस्था में धन संचय व पत्नी के सहवास में, गृहस्थ अवस्था में पुत्र उत्पत्ति व यश प्राप्ति में रहता है। इस प्रकार उस व्यक्ति के सुख का केन्द्र कभी एक वस्तु में, कभी दूसरी वस्तु में बदलता रहता है। इस विवरण से स्पष्ट है कि सुख न माता की गोदी में है, न खेल खिलौनों में और न ही अन्य वस्तुओं में। ये समस्त पदार्थ भौतिक हैं, स्वयं सुख व आनन्द से रहित हैं, फिर कैसे दूसरों को सुख दे सकते हैं। यह सुख की भावना तो स्वयं मनुष्य में विद्यमान है। वह भ्रम से, सुख कभी माता की गोदी में मानता है, कभी खेल खिलौनों में और कभी अन्य वस्तुओं में।

मनुष्य भ्रम व मोह बुद्धि से कभी एक वस्तु को सुखदायी समझता है और फिर उसी वस्तु को दुखदायक मानने लगता है कभी एक ही वस्तु को एक ही समय में दुखद और दूसरे समय में सुखद अनुभव करता है। सन् १९२० से पहिले भारत के नागरिक विदेशी, बारीक, चटकीले भड़कीले वस्त्रों पर मोहित थे, स्वदेशी वस्त्र एवं खद्दर को घृणा की दृष्टि से

देखते थे। शिक्षित महिलायें चर्खा चलाने को जंगली व गंवारपन समझती थीं। महात्मा गांधी के भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में अवतीर्ण होते ही भारत की उच्च सभ्य कोटि की जनता खद्दर को आदर की दृष्टि से देखने लगी; विदेशी सुन्दर बारीक वस्त्रों को केवल अपने शरीर से उतार कर ही नहीं फेंक दिया वरन् उनको अग्नि में भस्म कर डाला। कुलीन शिक्षित महिलायें चर्खा चलाने में अहोभाग्य समझने लगीं। यह सब भेद मनुष्य की दृष्टिकोण का है। सुख न बारीक विदेशी वस्त्र में है और न स्वदेशी खद्दर में। यह सुख आनन्द तो स्वयं मनुष्य की आत्मा में है।

यह हृदय में भलीभांति अंकित हो जाने पर कि आनन्द वाह्य किसी वस्तु में नहीं है, यह (आनन्द) तो स्वयं उसकी अन्तर्स्थित आत्मा में विद्यमान है, उस व्यक्ति का दृष्टिकोण बिल्कुल बदल जाता है। उसको सांसारिक पदार्थों में सुख या दुख प्रतीत नहीं होता है, मोह क्षीण हो जाता है, भ्रम बुद्धि नष्ट हो जाती है, वाह्य पदार्थों को सम भाव से देखने लगता है, स्थितप्रज्ञ की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। पहिले बात-बात में उसको क्रोध आता था। अपने को उच्च समझ कर दूसरों का तिरस्कार करता था। दूसरे व्यक्तियों की धन सम्पदा एवं ऐश्वर्य देखकर उसके हृदय में ईर्षा का भाव उत्पन्न होता था। सुन्दर रमणियों के अवलोकन से काम तृष्णा जागृत हो उठती थी। व्यापार में प्रतियोगिता होने के कारण, अन्य व्यापारियों के प्रति, द्वेषाग्नि भड़क उठती थी। इस भांति अनेक प्रकार की कुवृत्तियां लगातार अपना कार्य करती रहती थीं। दृष्टिकोण में परिवर्तन हो जाने पर साम्य भाव का साम्राज्य स्थापित हो जाता है, कुवृत्तियां नष्ट हो जाती हैं, उनके स्थान पर दया, क्षमा, नम्रता, प्रेम आदि शुभ प्रवृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। दुखित जीवों के दुख दूर करने में उसको आनन्द आने लगता है। उसे प्राणी मात्र से प्रेम हो जाता है। प्रेम का प्रवाह चारों ओर वेग से बहने लगता है। उसका गृह प्रेम-कुटी बन जाता है।

ज्यों-ज्यों उसकी कुवृत्तियां नष्ट होती जाती हैं और उनके स्थान पर शुभ भावनायें व वृत्तियां अपना आधिपत्य स्थापित करती जाती हैं, त्यों-त्यों वह व्यक्ति अधिकाधिक आनन्द अनुभव करता है। जब वह व्यक्ति समाधि लगाकर अपने ज्ञान व आनन्द स्वरूप में मग्न होता है, उस समय वह अनुपम अलौकिक आनन्द का रसास्वादन करता है, उसकी आत्मिक जीवन शक्ति का वेग के साथ संचार होता है। अन्त में एक ऐसी अनुपम अवस्था को प्राप्त होता है, जो दिव्य ज्ञान से आलोकित व दिव्य आनन्द से ओतप्रोत है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आनन्द आत्मा का स्वरूप है और आत्मा का यह आनन्द स्वरूप कुछ अज्ञात कारणों से कलुषित व विकृत होकर आत्मा में सुख की कामना के रूप में प्रदर्शित होता है और यह सुख की कामना काम क्रोध आदि अनेक प्रकार के विभावों से रंजित हुई दिखलाई देती है।

(३) अनन्त शक्ति

मनुष्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए निश्चित किया जा चुका है कि मनुष्य के भीतर संकल्प शक्ति है। यह संकल्प शक्ति मनुष्य के भीतर लाइनमैन के सदृश कार्य करती रहती है। जैसे लाइनमैन के बटन दबाते ही, विद्युत वेग से तार पर दौड़ने लगती है, मशीनें जो अब तक बन्द पड़ी थीं, चलने लगती हैं, अनेक प्रकार का सामान तय्यार होने लगता है, विद्युत का प्रकाश चारों ओर फैल जाता है एवं चतुर्दिक फैले हुए अन्धकार का नाश हो जाता है। यही कार्य मनुष्य के अन्तर्गत संकल्प शक्ति का है। इस शक्ति के कर्मशील होने पर मनुष्य में जीवन का संचार होता है, उसकी ज्ञान व कर्मेन्द्रियां कर्म जगत में उद्यमशील होती हैं, उसके हस्त पाद आदि अंग एवं समस्त शरीर संकल्प के अनुसार कार्य करने लगते हैं। इसी शक्ति के कारण मनुष्य अनेक वस्तुओं का भोग व उपभोग, ग्रहण या त्याग करता है। इस संकल्प शक्ति के

अकर्मण्य होने पर नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियां अपना व्यापार कार्य बन्द कर देती हैं, हस्तपाद आदि कर्मेन्द्रियां शिथिल होकर मृतवत हो जाती हैं एवं मनुष्य निर्जीव सा प्रतीत होने लगता है। इस संकल्प शक्ति के पुनः जागृत होने पर मनुष्य अनेक प्रकार के कार्य फिर करने लगता है। संसार में जितने महान पुरुष हुए हैं, उनमें यह संकल्प शक्ति अधिक मात्रा में पाई जाती है। इस शक्ति के अधिक दृढ़ होने पर, मनुष्य अनेक आपत्ति व बाधाओं को जीत कर, महान पद को प्राप्त होता है।

इस संकल्प शक्ति के साथ-साथ मनुष्य में अन्य प्रकार की शक्तियां भी प्रतीत होती हैं। मनुष्य में साहस व पौरुष है, जिसके कारण ही मनुष्य पुरुष कहलाता है और अनेक प्रकार के कठिन से कठिन कार्य कर डालता है। जिस मनुष्य में साहस व पौरुष की कमी है, वह मनुष्य नहीं वरन् नपुंसक है, मट्टी के सदृश मृत है। इस साहस व पौरुष के बल पर ही मनुष्य दिग्विजयी होता है, संसार में अनेक प्रकार के महान कार्य करता है। संकल्प शक्ति व साहस के अत्यन्त दृढ़ होने पर, मनुष्य काम, क्रोध आदि अशुभ भावना, कुवृत्ति एवं इन्द्रियों को दमन करके, जितेन्द्रिय बन सर्वज्ञ व परमानन्द अवस्था को प्राप्त कर सकता है। इससे ज्ञात होता है कि आत्मा में अनेक प्रकार की शक्तियां विद्यमान हैं।

जिस प्रकार सतत प्रयत्न करने पर ज्ञान का पूर्ण विकास व परमानन्द अवस्था की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार सतत प्रयत्न करने पर मनुष्य के अन्तर्गत शक्ति का भी पूर्ण विकास हो सकता है। इसलिये आत्मा को अनन्त शक्ति युक्त भी मानना होगा।

(४) आत्मा सच्चिदानन्द है

उपरोक्त अनुसन्धान से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह आत्मा स्वभाव रूप से ज्ञाता, दृष्टा, आनन्दमयी एवं अनन्त शक्ति युक्त है।

दूसरे शब्दों में इस आत्मा के स्वभाव को सच्चिदानन्द स्वरूप कह सकते हैं[1]। कुछ कारणों से (जिनका अनुसन्धान आगे किया जावेगा) आत्मा का यह अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द व वीर्य स्वरूप आवृत हो रहा है।

---

[1] 'सच्चिदानन्द' शब्द सत्+चित्+आनन्द तीन शब्दों से मिलकर बना है। सत् का अर्थ सत्ता या अस्तित्व है। सत्ता आत्मा की वीर्य-शक्ति का द्योतक है। चित् का अर्थ चैतन्य है, जिसमें आत्मा का ज्ञान दर्शन स्वरूप निहित है। इस प्रकार सच्चिदानन्द शब्द से आत्मा के पूर्ण स्वरूप का बोध होता है।

६—आत्मा का निवास स्थान

(१) तात्विक विवेचन

आत्मा का स्वरूप निर्णय हो जाने के पश्चात् यह जानने की अभि-लाषा होती है कि आत्मा शरीर के किस भाग विशेष में रहता है ? आत्मा का क्या आकार है ? इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन प्रकार के विचार हो सकते हैं :—

(१) आत्मा एक अखंड अमूर्तिक पदार्थ है, जो शरीर के हृदय, मस्तिष्क आदि किसी भाग विशेष में स्थित है और उसका आकार उस स्थान विशेष के आकार जैसा है या उस भाग विशेष से भी छोटा केवल अणु मात्र है, जहां स्थिर रहकर यह आत्मा सम्पूर्ण शरीर पर अपना आधि-पत्य रखता है एवं उससे अनेक प्रकार के कार्य लेता है।

(२) आत्मा एक अखंड अमूर्त्तिक पदार्थ है, जो मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो रहा है। इस आत्मा का आकार शरीर के आकार जैसा है। जैसे मनुष्य का शरीर वाल्य अवस्था से लगाकर यौवन अवस्था पर्यन्त वृद्धि करता जाता है, उसी प्रकार शरीर के अन्दर व्याप्त आत्मा भी विस्तरित होता जाता है और जैसे-जैसे यौवन अवस्था के पश्चात् शरीर के शिथिल होने के कारण शरीर संकुचित होता जाता है, उसी प्रकार शरीर के अन्दर व्याप्त आत्मा भी संकुचित होता जाता है।

(३) आत्मा एक अखंड अमूर्त्तिक पदार्थ है, जो मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो रहा है और शरीर के वाहर भी व्याप्त है। शरीर से वाहर ? तो क्या यह आत्मा थोड़ी दूर तक फैला हुआ है या फैलकर समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त है।

आत्मा के रहने का स्थान विशेष जानने के लिये मनुष्य के कार्यों को ध्यानपूर्वक देखना एवं अन्वीक्षण करना होगा। जब कोई व्यक्ति अपने किसी प्रिय जन की मृत्यु, सम्पत्ति विनाश आदि किसी दुखद घटना का समाचार सुनता है, उस समय उस व्यक्ति को अत्यन्त मानसिक कष्ट पहुंचता है, जिसके कारण उसका मुख उदास हो जाता है, शरीर का लावण्य व तेज नष्ट हो जाता है, अंगों में शिथिलता आ जाती है. शरीर पीला पड़ जाता है। वह व्यक्ति ऐसा दिखलाई देने लगता है कि जैसे कई मास से रोग से पीड़ित हो। मानसिक दुख होने से, उसकी आत्मिक शक्तियां भी शिथिल पड़ जाती हैं; किसी भी कार्य करने के लिये उसका मन उत्साहित नहीं होता, उसकी दशा जड़वत हो जाती है। उस व्यक्ति के दुखित होने का प्रभाव उसकी समस्त आत्मिक शक्ति, मानसिक चेष्टा एवं शरीर के सम्पूर्ण अंगों पर पड़ता है।

इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति पुत्र जन्म, विपुल धन-प्राप्ति आदि कोई सुखद समाचार सुनता है, उस समय वह अत्यन्त हर्षित होता है, उसका मुखमंडल प्रफुल्लित हो उठता है, शरीर रोमांचित हो जाता है, हृदय में उत्साह बढ़ जाता है। आत्मिक शक्तियां विकसित हो जाती हैं, समस्त वायुमंडल उसको आनन्दमय प्रतीत होने लगता है। इस भांति उस व्यक्ति के आनन्दित होने का प्रभाव उसके सम्पूर्ण शरीर के अंगों पर पड़ता है।

इस प्रकार सुख या दुख देने वाले कार्य का प्रभाव आत्मा की प्रत्येक शक्ति, मानसिक चेष्टा एवं शरीर के प्रत्येक भाग पर पड़ता है। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि इन कार्यों का प्रभाव केवल मस्तिष्क, हृदय या अन्य किसी निश्चित स्थान पर ही पड़ता हो और अन्य स्थान प्रभावित न होते हों। इस घटना से—शरीर का प्रत्येक भाग प्रभावित होता है—प्रगट होता है कि आत्मा शरीर के प्रत्येक भाग में विद्यमान है। सुखद या दुखद घटना का प्रभाव मस्तिष्क द्वारा आत्मा पर पड़ता है, जिससे

शरीर के समस्त अंग प्रभावित होते हैं। शरीर रोमांचित, मुख प्रफुल्लित, हृदय उत्साहित, आत्मिक शक्तियां विकसित या शरीर कान्तिहीन, मुख मलीन, हृदय निरुत्साहित, आत्मिक शक्तियां संकुचित होती हैं।

शरीर में पीड़ा होने के अनुभव से भी इसी परिणाम पर पहुंचा जाता है कि आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। जब किसी व्यक्ति के किसी अंग में पीड़ा होती है, फोड़े के पकने, बिच्छू आदि किसी विषैले जन्तु के काटने, शस्त्र आघात होने, हड्डी आदि टूटने की तीव्र वेदना होती है, तत्काल ही उसको उस पीड़ा के कष्ट का अनुभव होने लगता है, उससे व्याकुल हो उठता है। यदि किसी दूसरे व्यक्ति के शरीर में पीड़ा होती हो और उससे व्यथित होकर रुदन भी करता हो, तो उस पीड़ा का ज्ञान होने पर भी उसका विशेष प्रभाव प्रथम व्यक्ति पर नहीं पड़ता है। यदि दूसरा व्यक्ति पुत्र आदि प्रिय जन है, तो उसकी वेदना का ज्ञान होने से प्रथम व्यक्ति के हृदय में दुख अवश्य होता है। परन्तु यह दुख उस कष्ट के अनुभव से जो अपने शरीर में पीड़ा होने से होता है, सर्वथा भिन्न प्रकार का है। अपने शरीर में पीड़ा होने से एक प्रकार के दुःख की सनसनी पीड़ा के स्थान विशेष पर होती है। कभी कभी यह पीड़ा निकटवर्त्ती अन्य अंग और कभी कभी सम्पूर्ण शरीर में होने लगती है। यह जानना भी कठिन हो जाता है कि शरीर के किस स्थान विशेष पर यह पीड़ा हो रही है।[1] जब अन्य समीपवर्त्ती प्रिय व्यक्ति के शरीर में पीड़ा होने की सूचना प्रथम व्यक्ति को मिलती है, उस समय उस दुखद समाचार से उसके (प्रथम व्यक्ति के) हृदय में मानसिक कष्ट अवश्य होता है, परन्तु उस प्रिय व्यक्ति के दुख की सनसनी का कुछ भी अनुभव उसको नहीं होता है। शरीर के किसी भी भाग में पीड़ा होने से दुख की सनसनी का विशेष प्रकार का अनुभव बतलाता है कि उस पीड़ित भाग में आत्मा

---

[1] इस प्रकार के अनुभव से प्रायः प्रत्येक व्यक्ति परिचित हैं।

विद्यमान है। यह अनुभव शरीर के प्रत्येक भाग में होता है, इसलिये कहना पड़ता है कि आत्मा शरीर के प्रत्येक भाग में विद्यमान है।

यदि यह कहा जावे कि शरीर के उस पीड़ित स्थान में आत्मा का अस्तित्व नहीं है, आत्मा हृदय, मस्तिष्क या अन्य किसी स्थान विशेष पर स्थित है, पीड़ा का ज्ञान शरीर के उस भाग में विद्यमान सूक्ष्म तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क तक पहुंचता है और वहां से यह ज्ञान अन्य सूक्ष्म तन्तुओं द्वारा हृदय आदि आत्मा के रहने के स्थान विशेष तक पहुंच जाता है, जिससे आत्मा को दुख का भान होता है, आत्मा के दुखित होने से, शरीर संकुचित व उदासीन हो जाता है। ऐसी दशा में अपने शरीर में उत्पन्न पीड़ा का दुख, उस मानसिक दुख के सदृश होना चाहिये, जो उसको उस समय होता है, जब वह अपने नेत्रों के सामने अपने प्रिय पुत्र के शरीर में शस्त्र के आघात से गहरा घाव देखता है, जिसकी वेदना से पुत्र रुदन करता है। प्रिय पुत्र के शस्त्र के आघात द्वारा ज़ख्म का चित्र एवं वेदना से रुदन के शब्द, उस व्यक्ति के मस्तिष्क आदि आत्मा के रहने के स्थान विशेष तक नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रिय एवं तत्सम्बन्धी सूक्ष्म तन्तुओं द्वारा पहुँच जाते हैं। ऐसी दशा में दोनों प्रकार के दुख—अपने शरीर में उत्पन्न हुई पीड़ा का दुख व अपने प्रिय पुत्र की पीड़ा के ज्ञान से उत्पन्न हुआ मानसिक कष्ट—सर्वथा एक दूसरे के समान होने चाहियें। इनमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं हो सकता क्योंकि इन दोनों दशाओं में निर्जीव स्थान की—प्रथम दशा में अपने निर्जीव शरीर की, दूसरी दशा में अपने शरीर से पृथक पुत्र शरीर की—पीड़ा का ज्ञान सूक्ष्म तन्तुओं (Nerves) द्वारा आत्मा को होता है।

अनुभव बतलाता है कि इन दोनों दशाओं का दुख एकसा नहीं है। प्रथम दशा में अपने शरीर में पीड़ा होने से दुख की सनसनी का जो विशेष प्रकार का अनुभव होता है, वह उस मानसिक कष्ट से—जो उसको दूसरी दशा में अपने प्रिय पुत्र की पीड़ा के ज्ञान से होता है—सर्वथा भिन्न है।

अपने शरीर के किसी भी भाग में पीड़ा होने से उत्पन्न हुए विशेष प्रकार के दुख की सनसनी के अनुभव से स्पष्ट है कि शरीर के उस भाग में आत्मा विद्यमान है। शरीर के किसी भी भाग में पीड़ा होने से इसी विशेष प्रकार के दुख की सनसनी होती है, इसलिये यह मानना पड़ता है कि सम्पूर्ण शरीर में आत्मा व्याप्त है। इस अनुसन्धान से प्रगट है कि आत्मा शरीर के मस्तिष्क, हृदय या किसी अन्य विशेष स्थान के अन्दर निहित नहीं, वरन् सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।

किसी व्यक्ति को अन्य प्रिय जन के शारीरिक कष्ट से केवल मानसिक कष्ट होता है। यह मानसिक कष्ट उसी श्रेणी का कष्ट है, जो कि उस व्यक्ति को अकस्मात् अखिल धन सम्पत्ति के विनाश या किसी अन्य बड़ी हानि से होता है। प्रिय जन की पीड़ा, धन सम्पत्ति विनाश आदि से उस व्यक्ति को मानसिक कष्ट इस कारण होता है कि उसको उनसे मोह है, उनको अपना समझता है। यदि उन पदार्थों में ममत्व न हो, उनको अपना न समझता हो, तो इन बातों से तनिक भी मानसिक कष्ट उसको न होगा, जैसा कि किसी अपरिचित मनुष्य की पीड़ा, धन सम्पत्ति विनाश आदि से किसी व्यक्ति को भी कष्ट नहीं होता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि मानसिक कष्ट का होना उस व्यक्ति की भावनाओं पर निर्भर है। भावनाओं का अस्तित्व भौतिक पदार्थों के अस्तित्व के सदृश नहीं है। ये भावनायें केवल काल्पनिक हैं। इस घटना से—एक व्यक्ति को दूसरे अपरिचित मनुष्य की शारीरिक पीड़ा से किसी प्रकार का दुख नहीं होता है—प्रगट है कि प्रथम व्यक्ति की आत्मा दूसरे मनुष्य के पीड़ित स्थान में विद्यमान नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि किसी व्यक्ति की आत्मा उसके शरीर से बाहर व्याप्त नहीं है।

इस अनुसन्धान से यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा एक अखंड अमूर्त्तिक पदार्थ है, जो न मनुष्य शरीर से बाहर व्याप्त है और न शरीर के किसी विशेष भाग में केन्द्रित है। यह आत्मा मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर

में व्याप्त है, उसका आकार भी मनुष्य शरीर के आकार मात्र है। जैसे शरीर की आकृति में बाल्य अवस्था से यौवन अवस्था पर्यन्त वृद्धि और यौवन अवस्था से मृत्यु पर्यन्त संकोच होता रहता है, उसी प्रकार शरीर में व्याप्त आत्मा भी शरीर की वृद्धि के साथ-साथ विस्तरित एवं शरीर के संकोच के साथ, संकुचित होता रहता है।

(२) वैज्ञानिकों के मत

आत्मा के आकार व रहने के स्थान विशेष के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों ने कितने ही अनुसन्धान किये हैं, जिनमें से श्री मेहर (Maher) की सम्मति उद्धृत की जाती है। श्री मेहर अपनी मनोविज्ञान सम्बन्धी पुस्तक में लिखते हैं :—

"There has been much discussion among philosophers, ancient and modern, regarding the precise part of the body to be assigned as the 'Seat of the Soul'. Some located it in the heart, others in the head, others in various portions of the brain.. ..The hopeless conflicting state of opinion on the question would seem, to be due to the erroneous, but widely prevalent view that the simplicity of the Essence or Substance possessed by the soul is a spacial simplicity, akin to that of a mathematical point. As a consequence, fruitless efforts have continually been made to discover some general nerve centre, some focus from which lines of communication radiate to all districts of the body. The indivisibility, however of the soul, just as

that of intelligence and volition, does not consist in the minuteness of the point. The soul is an immaterial energy....In scholastic phraseology it was described as present throughout the body, which it enlivens, not circumscriptive but definitive ....The soul is present, though in a non-quantitative manner, throughout the whole body; moreover it is so present everywhere in the entirety of its essence......In so far, as the material subject, by the limits of which, vital activity, in general, is defined and conditioned, increases or diminishes, the soul may be said, in figurative language, to experience virtual increase or diminution—an expansion or contraction—in the sphere and range of its forces, but there is no real quantitative increase in the substance of the soul itself."

जिसका अनुवाद हिन्दी भाषा में निम्न प्रकार होता है :—

"प्राचीन व वर्तमान काल के दार्शनिकों में इस विषय पर बड़ा वाद-विवाद रहा है कि शरीर के किस भाग में आत्मा स्थित है। कुछ दार्श-निकों ने आत्मा के रहने का स्थान हृदय समझा था, कुछ ने मस्तक, कुछ ने मस्तिष्क के विभिन्न भाग......इस विषय में घोर मत भेद का कारण यह प्रतीत होता है कि अधिकतर विद्वानों ने, भ्रम से, यह समझ लिया था कि आत्म तत्व की सरलता इस बात में है कि वह आकार में भी सूक्ष्म, गणित के विन्दु सदृश हो। इसका फल यह हुआ कि सतत निष्फल प्रयत्न इस बात के लिये किये गये कि शरीर के अन्दर ऐसे किसी केन्द्रीय स्थान का पता लगाया जावे, जिससे शरीर के भिन्न-भिन्न भाग,

सूक्ष्म तन्तुओं द्वारा, सम्बन्धित हों। आत्मा की अखंडता, ज्ञान व संकल्प शक्ति की अखंडता के सदृश, आकार की सूक्ष्मता में नहीं है। आत्मा एक अभौतिक शक्ति है.....विद्वानों के शब्दों में कहा जाता है कि आत्मा, जिससे शरीर में स्फूर्त्ति आती है, सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। यह शरीर को आवृत किये हुए नहीं है वरन् शरीर में सीमित है.......आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, परन्तु गुरुत्व की दृष्टि से नहीं। शरीर के प्रत्येक भाग में, पूर्ण शक्ति को धारण किये हुए, यह आत्मा विद्यमान है..... यदि शरीर—जिसमें मनुष्य की शक्तियों का प्रयोग सीमित है—वृद्धि या ह्रास होता है, तो अलंकारिक भाषा में कहा जा सकता है कि आत्मा में वृद्धि या ह्रास—उसके आकार व कार्यक्षेत्र में विस्तार या संकोच—होता है। परन्तु वास्तव में आत्म तत्व की मात्रा में, गुरुत्व की दृष्टि से, कोई परिवर्तन नहीं होता।"[1]

---

[1] यह उल्लेखनीय है कि आत्मा के आकार सम्बन्ध में प्राचीन यूनान व रोम वासियों का भी यही मत था कि आत्मा शरीर के आकार मात्र है और शरीर की वृद्धि व संकोच के साथ-साथ आत्मा का आकार भी विस्तरित या संकुचित होता रहता है। श्री जे० डब्ल्यू० ड्रेपर (J. W. Draper) ने अपनी पुस्तक "दी कनफ़्लिक्ट बिटवीन रिलीजन एंड साइन्स" (The Conflict between Religion and Science) में लिखा है "The Pagan Greeks and Romans believed that the Spirit of man resembles his bodily form, varying its appearance with his variations and growing with his growth." जिसका हिन्दी अनुवाद निम्न प्रकार होता है :—

ईसाई धर्म को न मानने वाले यूनान व रोमवासियों का यह विश्वास था कि मनुष्य की आत्मा का आकार शरीर के आकार मात्र है, शरीर में

शरीर में व्याप्त आत्मा का कोई उपयुक्त दृष्टान्त इस प्राकृतिक जगत में दिखलाई नहीं देता है। इसका कारण यह है कि आत्मा सरल, अदृश्य, अविभाजित, असंयुक्त पदार्थ है, जब कि भौतिक पदार्थ संयुक्त, विभाजित एवं इन्द्रिय गम्य हैं। मानव समाज वृद्धि व ह्रास से साधारणतः पदार्थ की मात्रा में वृद्धि व ह्रास को समझता है। आत्मा के आकार में वृद्धि या ह्रास से उसकी मात्रा में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। उससे आशय केवल आकाश में विस्तरित या संकुचित होने से है।

प्रकाश के दृष्टान्त से आत्मा के विस्तार व संकोच को कुछ-कुछ समझा जा सकता है। जैसे कमरे में स्थित लैम्प का प्रकाश उस कमरे में फैल कर कमरे के आकार मात्र हो जाता है। यदि वह लैम्प किसी बड़े कमरे में रख दिया जावे, तो उसका प्रकाश विस्तरित होकर बड़े कमरे के आकार मात्र हो जाता है और यदि वही लैम्प किसी छोटे कमरे में रख दिया जावे, तो उसका प्रकाश संकुचित होकर छोटे कमरे के आकार मात्र रह जाता है। इसी प्रकार आत्मा, जैसे शरीर में जन्म धारण करता है, उसी के आकार मात्र हो जाता है। यदि शरीर बड़ा होता है, तो विस्तरित हो जाता है और यदि छोटा होता है, तो संकुचित हो जाता है।

परिवर्तन व वृद्धि होने के साथ-साथ आत्मा के आकार में भी परिवर्तन व वृद्धि होती रहती है।

७—आत्मा का अमरत्व

(१) विज्ञानानुसार

आत्मा का स्वरूप निर्णय किये जाने के पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि जीव कहां से आया है ? क्या किसी ने इसको बनाया है ? शारीरिक मृत्यु के पश्चात् क्या आत्मा का विनाश हो जाता है ? क्या यह आत्मा अमर, अविनाशी एवं अनन्त है ?

इन प्रश्नों का निर्णय करने के लिये दैनिक घटनाओं का अन्वीक्षण एवं परीक्षण करना होगा। इस जगत में जितने द्रव्य देखे जाते हैं, उनकी अवस्थाओं में सदैव परिवर्तन होता रहता है; परन्तु उन द्रव्यों के मूलतत्व का नाश कभी नहीं होता। स्वर्ण कभी कंकण, कभी मुद्रिका, कभी हार, कभी किसी अन्य सुन्दर भूषण के रूप में दृष्टिगोचर होता है; कभी अशर्फ़ी, सावरन आदि सिक्का बनकर बाज़ार में घूमता है; कभी तांबा, लोहा आदि धातु व मृतिका आदि पदार्थों से मिश्रित हुआ भूगर्भ से निकलता है। इस प्रकार स्वर्ण पदार्थ की अवस्था में सदैव परिवर्तन होता हुआ दिख-लाई देता है, परन्तु इन अवस्थाओं में परिवर्तन होते हुए भी स्वर्ण अपने मूलतत्व स्वर्णत्व को कदापि नहीं त्यागता है। यही दशा हाइड्रोजन (Hydrogen), आक्सीजन (Oxygen) गैसों की है। जब इन दोनों गैसों का परस्पर संयोग होकर संयुक्त पदार्थ बनता है, उस समय ये जल का रूप धारण कर लेते हैं। ठंड के लगने पर यह जल जमकर बर्फ़ के रूप में परिणत हो जाता है। यही जल, अग्नि आदि उष्ण पदार्थ की उष्णता पाकर, वाष्प बन जाता है। यह भाप ठंड पाकर मेघ के रूप में आकाश में विचरती हुई दिखलाई देती है। यही जल कारबन (Car-

bon), नाइट्रोजन (Nitrogen) आदि तत्वों के साथ संयुक्त होकर फलों के मधुर रस में परिवर्तित हो जाता है। ये फल खाये जाने पर मनुष्य के शरीर में प्रवेश करके रक्त, मज्जा आदि सप्त धातुओं में परिणत हो जाते हैं, जिनसे शरीर की पुष्टि होती है। इस प्रकार ये हाइड्रोजन, आक्सीजन आदि वायु अनेक रूप धारण करती हैं एवं अनेक वस्तुओं के रूप में दिखलाई देती हैं, परन्तु नाना प्रकार के पदार्थों का रूप धारण करते हुए भी ये अपने मूलतत्व के स्वरूप को कदापि नहीं त्यागती हैं।

यही दशा जगत के अन्य पदार्थों की है, प्रत्येक पदार्थ की अवस्था में सदैव परिवर्तन होता रहता है, परन्तु किसी पदार्थ के मूलतत्व का विनाश कभी नहीं होता। पदार्थों की अवस्थाओं में निरन्तर परिवर्तन तथा उनके मूलतत्वों की ध्रौव्यता देखकर वैज्ञानिकों ने निम्नलिखित दो सिद्धान्त[1] स्थिर किये हैं :—

(१) संसार में न किसी वस्तु का विनाश होता है, न कोई वस्तु शून्य से उत्पन्न होती है।

(२) यद्यपि द्रव्य की अवस्था में सदैव परिवर्तन होता रहता है, तो भी उसके मूलतत्व का विनाश कभी नहीं होता।

आत्मा अखंड, सरल, मूलतत्व है, जैसाकि पहिले निश्चित किया जा चुका है। यह मिश्रित या संयुक्त पदार्थ नहीं है, न यह विभाजित किया जा सकता है। यदि उपरोक्त वैज्ञानिक सिद्धान्त आत्मतत्व पर लगाये

---

[1] ये सिद्धान्त अंग्रेजी भाषा में निम्न प्रकार हैं :—

(1) Nothing is destructible, nor anything can be created out of nothing.

(2) Though outer forms change, yet substance remains the same.

जावें, तो यह कहना पड़ता है कि आत्मा न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी उसका विनाश होगा। केवल इसकी अवस्था में परिवर्तन होता रहेगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आत्मा अमर, अविनाशी मूलतत्व है, जिसका न आदि है न अन्त।

(२) तात्विक विवेचन

जीव का बनाने वाला कोई नहीं है

वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार अन्वीक्षण करने से यही फल निकलता है कि इस आत्मा का बनाने वाला कोई कर्त्ता नहीं है। यह आत्मा स्वयं सिद्ध अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। अन्य प्रकार से अनुसन्धान करने पर भी इसी परिणाम पर पहुंचा जाता है कि जीव का कर्ता कोई नहीं है। यह आत्मा स्वयं सिद्ध अनादि अनन्त है।

एक स्त्री के एक साथ दो पुत्र उत्पन्न होते हैं। वे दोनों बालक एक ही वातावरण में साथ-साथ रखे जाते हैं। उनका पालन पोषण एकसा होता है। एकसे ही खेल साथ-साथ खेलते हैं। माता पिता तथा अन्य मनुष्यों का वर्ताव उनके साथ एकसा होता है। उनको एकसी ही शिक्षा दी जाती है। सारांश में दोनों बालकों का पालन पोषण व शिक्षा आदि एकसी परिस्थिति में होती है। एक ही वातावरण में रहने व एकसी ही परिस्थिति में पालन किये जाने पर भी, इन दोनों बालकों के शरीर की बनावट, चाल ढाल, रूप रंग, आदि में अन्तर पाया जाता है, इनके विचार, भावना आदि मानसिक चेष्टायें भी एकसी नहीं होतीं। एकसी परिस्थिति में पालन पोषण एवं शिक्षित किये जाने पर भी इन बालकों में अन्तर क्यों? इस अन्तर का क्या कारण हो सकता है? बाह्य परिस्थिति एकसी होने से, कोई बाह्य कारण इस अन्तर का दृष्टिगोचर नहीं होता, इसलिये इस अन्तर का अन्य कोई अदृश्य गुप्त कारण मानना होगा। सूक्ष्म दृष्टि

से विचारने पर इस अन्तर के निम्नलिखित दो अदृश्य कारण हो सकते हैं :—

(१) इन बालकों के व्यक्तित्व को किसी बाह्य अदृश्य शक्ति या व्यक्ति ने बनाया है और उसने बनाते हुए इन बालकों के व्यक्तित्व में अन्तर कर दिया है। व्यक्तित्व में अन्तर होने से, एकसी परिस्थिति में पोषित किये जाने पर भी, इनके शरीर के निर्माण, मानसिक चेष्टा आदि में अन्तर हो जाता है। या

(२) इन बालकों के शरीर के अन्तर्स्थित जो आत्मायें हैं उनके—पूर्व संस्कार में विभिन्नता होने के कारण एक ही वातावरण में पोषित किये जाने पर भी—शरीर के निर्माण, प्रवृत्ति, मानसिक चेष्टा आदि के विकास में अन्तर पड़ जाता है,।

इन दो सम्भावित कारणों में से पहिले प्रथम कारण की समीक्षा करनी उचित होगी कि क्या किसी अदृश्य शक्ति या व्यक्ति ने इन बालकों का निर्माण किया है और निर्माण करते हुए इनके व्यक्तित्व में अन्तर कर दिया है ? प्राणियों का कर्त्ता किसी अदृश्य शक्ति को मान लेने में कितनी ही बाधायें उपस्थित होती हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

१. प्राणियों के बनाने में कर्त्ता का क्या प्रयोजन है ? बिना प्रयोजन के कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति किसी कार्य को नहीं करता है। संसार के अनन्त प्राणियों की रचना का दुष्कर कार्य स्वल्प बुद्धि का कार्य नहीं हो सकता। इसके लिये अनन्त ज्ञान एवं अनन्त सामर्थ्य की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त जब मनुष्य की आत्मा में सम्पूर्ण पदार्थो के जानने की शक्ति विद्यमान है, तो इस आत्मा के बनाने वाले कर्त्ता में भी सम्पूर्ण पदार्थों के जानने की शक्ति अर्थात् सर्वज्ञता अवश्य होनी चाहिये। सर्वज्ञ कर्त्ता किसी कार्य को बिना विशेष प्रयोजन के कदापि नहीं करेगा। कोई उचित प्रयोजन सृष्टि या प्राणि समाज की रचना का दृष्टिगोचर नहीं होता। निम्नलिखित दो प्रयोजन सृष्टि रचना के कहे जा सकते हैं :—

(क) सृष्टि रचना सर्वज्ञ कर्त्ता का स्वभाव है। यदि ऐसा माना जाय, तो इसमें कुछ आपत्तियां आती हैं। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश भी अवश्य होता है। यह सिद्धान्त अटल है। इसकी सत्यता निर्विवाद सिद्ध है। संसार के प्रत्येक पदार्थ की अवस्था में परिवर्तन व प्रत्येक घटना इस सिद्धान्त की सत्यता को घोषित करती है। इसलिये इस सिद्धान्त की सत्यता के सम्बन्ध में अधिक अन्वेषण करना व्यर्थ है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह मानना होगा कि यदि उस सर्वज्ञ कर्त्ता का स्वभाव प्राणि समाज की रचना करना है, तो उसका स्वभाव प्राणि-समाज का विनाश करना भी है अर्थात् उस सर्वज्ञ कर्त्ता का स्वभाव प्राणि-समाज का उत्पादन व विनाश करना सिद्ध होता है।

संसार में कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति किसी वस्तु को बनाकर नष्ट नहीं करता। यदि बनाने के पश्चात् उस व्यक्ति को उस वस्तु के निर्माण में त्रुटि दिखलाई देती है, तो वह उस त्रुटि को दूर करने के लिये, उस वस्तु को तोड़ डालता है, त्रुटि एवं दूषण से मुक्त करके फिर उस वस्तु का निर्माण करता है। कर्त्ता की तुलना अज्ञानी मनुष्य के साथ इस विषय में नहीं की जा सकती। कर्त्ता सर्वज्ञ है, सब वस्तुओं के स्वभाव व उनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को पूर्णतय: जानता है। ऐसे सर्वज्ञ कर्त्ता के कार्य में त्रुटि का होना असम्भव है। किसी वस्तु का निर्माण करके फिर उसका नष्ट कर देना, यह कार्य तो बालकों की लीला के सदृश है। इस लीला में अज्ञानता की गन्ध आती है। सर्वज्ञ कर्त्ता का ऐसा स्वभाव नहीं हो सकता कि जिसमें अल्पज्ञता या अज्ञानता का सद्भाव हो। इसलिये प्राणि समाज की रचना, सर्वज्ञ कर्त्ता का स्वभाव नहीं हो सकता।

(ख) दूसरा प्रयोजन सृष्टि रचना का यह कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ कर्त्ता ने मनुष्य, पशु आदि प्राणि समाज की रचना, अपना ऐश्वर्य व सामर्थ्य दिखलाने के लिये की है। ऐसा मान लेने में दो बाधायें उपस्थित होती हैं :—

(अ) सर्वज्ञ कर्त्ता में अहंकार व अभिमान के दोष का आरोपण होता है। एक ऐसे व्यक्ति में—जो जगत के चर अचर समस्त पदार्थ, अहंकार आदि समस्त भावनाओं के दोष व गुण को भलीभांति पूर्णतया जानता है—अहंकार व अभिमान का दोष शोभा नहीं देता।[1] इसलिये यह प्रयोजन बुद्धि को अग्राह्य है।

(आ) अपना ऐश्वर्य व सामर्थ्य उस व्यक्ति को दिखलाया जाता है कि जो इन विशेषताओं (ऐश्वर्य व सामर्थ्य) की क्षमता में बराबरी या उच्चता का दावा करता है। इस अवस्था में तो सर्वज्ञ कर्त्ता के अतिरिक्त न कोई प्राणी है (क्योंकि प्राणिसमाज का उत्पादक कर्त्ता को मान लेने से किसी प्राणी का अस्तित्व पहिले से स्थित नहीं रहता), न बराबरी न उच्चताका दावा करने वाला कोई व्यक्ति ही है। ऐसी दशा में सामर्थ्य व ऐश्वर्य दिखलाना प्राणिसमाज के निर्माण का प्रयोजन नहीं हो सकता। इसलिये कोई युक्तिसंगत, हृदयग्राह्य प्रयोजन सृष्टि रचने का प्रतीत नहीं होता।

२. दूसरी बाधा यह आती है कि सर्वज्ञ कर्त्ता ने प्राणिसमाज की रचना किस पदार्थ से की है? शून्य से अथवा अपने दिव्य शरीर से या किसी अन्य पदार्थ के अस्तित्व से, जो पहिले से ही विद्यमान था? यदि कहा जावे कि सर्वज्ञ कर्त्ता ने शून्य (पदार्थों के अभाव की दशा) से बनाया है, तो यह कथन बुद्धि असंगत है। शून्य से किसी वस्तु का उत्पन्न होना विज्ञान के समस्त अनुसन्धान के विरुद्ध है। विज्ञान के सिद्धान्त—'संसार में किसी वस्तु का विनाश नहीं होता और न कोई वस्तु शून्य से

---

[1] नोट—ऐसा मानने वाले प्रायः कर्त्ता व ईश्वर को आनन्दमयी भी मानते हैं। अहंकारी व अभिमानी व्यक्ति आनन्दमयी नहीं हो सकता, अहंकार की भावना आनन्द स्वरूप की घातक है। इस हेतु से ईश्वर को जगतकर्त्ता मानने में, उसके आनन्द स्वरूप में भी बाधा पड़ती है।

उत्पन्न होती है'—के विवेचन से स्पष्ट है कि शून्य से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं की जा सकती।

यदि कहा जावे कि उस कर्त्ता ने अपने दिव्य शरीर से सृष्टि की रचना की है, तो इसका अर्थ यह होता है कि उस कर्त्ता ने अपने दिव्य शरीर में से कुछ भाग को, पृथक करके मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों के रूप में परिवर्त्तित कर दिया है। ऐसा मान लेने में कई दूषण आते हैं :—

प्रथम दूषण यह आता है कि कर्त्ता ज्यों-ज्यों नये प्राणियों की रचना अपने दिव्य शरीर में से करता जावेगा, त्यों-त्यों उसका दिव्य शरीर घटता जावेगा। क्षीण होते-होते एक दिन ऐसा आ जावेगा कि उसके सम्पूर्ण दिव्य शरीर का ही विनाश हो जावेगा।[1] शरीर का विनाश होते ही उस कर्त्ता का विनाश तथा नवीन प्राणीसमाज की रचना का कार्य भी वन्द हो

---

[1] ऐसा मानने वालों को उपरोक्त विनाश से बचने के लिये यह कहना होगा कि जब मनुष्य आदि प्राणी मरते हैं, तो मरने के पश्चात् उनकी आत्मायें कर्त्ता के दिव्य आत्मिक शरीर में मिल जाती हैं, जिससे कर्त्ता का दिव्य शरीर शास्वत बना रहता है। ऐसा मान लेने में कितनी ही बाधायें उपस्थित होती हैं। जिनमें से कुछ ये हैं :—

जब उस सर्वज्ञ-कर्त्ता ने अपने दिव्य शरीर से अंश पृथक किये, तो इन अंशधारी प्राणियों में अन्तर क्यों किया? क्यों उनको अज्ञानी बनाया? मनुष्य आदि प्राणी जब मरकर वापिस आते हैं, तो क्या उनके कर्म संस्कार साथ लगे रहते हैं। यदि साथ लगे रहते हैं, तो मृत्यु के पश्चात् आये हुए आत्मिक अंश पृथक-पृथक रहेंगे, सर्वथा मिल नहीं जावेंगे। इस प्रकार उस दिव्य शरीरधारी कर्त्ता को ऐसे कर्म संस्कार युक्त भिन्न-भिन्न अंशों का समूह मानना होगा, उसका शुद्ध स्वरूप नष्ट हो जावेगा। यदि यह माना जावे कि मृत्यु के पश्चात् ये अंश, कर्म संस्कारों से सर्वथा मुक्त होकर एवं शुद्ध दशा को प्राप्त होकर, पहिले ही से विद्यमान शुद्ध दिव्य शरीर में मिल

जावेगा। नये प्राणियों के उत्पन्न न होने तथा पहिले प्राणियों के मृत्यु को प्राप्त हो जाने से संसार प्राणीशून्य हो जावेगा एवं प्रलय सदैव के लिये हो जावेगी। यह परिणाम विद्यमान परिस्थिति के विरुद्ध होने से हृदय को अग्राह्य है।

द्वितीय दूषण यह आता है कि ऐसा मान लेने से उस कर्त्ता को भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखने वाले अनेक प्रदेशों का समूह मानना होगा। क्योंकि किसी अखंड द्रव्य का न भेद किया जा सकता है और न उससे पृथक भाग। ऐसी दशा में उस अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान वाले कर्त्ता को भिन्न-भिन्न, स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाले असंख्यात कर्त्ताओं का समूह मानना होगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति युक्त कर्त्ता एक नहीं है वरन् ऐसे अनन्त कर्त्ता हैं। जितने कर्त्ता हैं, उतने ही प्राणी हो सकेंगे। भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखने वाले अनन्त कर्त्ताओं के होने से उन सब का कार्य सदैव एक जैसा नहीं होगा। उनके परस्पर कार्य में भेद व विरोध होने के कारण कर्त्तृत्व-कार्य ही बन्द हो जावेगा। इसके अतिरिक्त ऐसी दशा में कर्त्ता एवं प्राणीसमाज में कोई अन्तर नहीं रहेगा क्योंकि प्रत्येक कर्त्ता ही प्राणी का रूप धारण कर लेता है, इन कारणों से यह कथन—कर्त्ता अपने दिव्य शरीर में से प्राणीसमाज की रचना करता है—मानने के अयोग्य है।

यदि यह कहा जावे कि उस अनन्त सामर्थ्य व अनन्त ज्ञान युक्त कर्त्ता का प्रतिबिम्ब कुछ विशेष भौतिक पदार्थों पर पड़ता है या उससे कुछ विशेष पुद्गल परमाणु के पुंज प्रभावित हो जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य

जाते हैं, तो प्रश्न उठता है कि ये कर्म संस्कार नष्ट क्यों हो जाते हैं? उन प्राणियों को अपने कर्मों का फल क्यों नहीं मिलता?

इस प्रकार अनेक बाधायें उठती हैं, जिनका अधिक विवेचन करना असंगत है।

अपने तेज व ज्योति से अन्य पदार्थों को तप्त व प्रकाशित करता है, उसी प्रकार यह कर्त्ता अपनी सामर्थ्य से कुछ चेतन शक्ति, भौतिक परमाणु या पदार्थों में प्रवेश करा देता है, जिसके कारण इन भौतिक परमाणु या पदार्थों में चेतनता आ जाती है और ये चेतना युक्त परमाणु या पदार्थ मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों के रूप में दिखलाई देते हैं।

वैज्ञानिक शैली से अन्वीक्षण करने पर इस विवेचन के निम्नलिखित दो तात्पर्य हो सकते हैं:—

(क) भौतिक पदार्थों में चेतना शक्ति आ जाती है और ये चेतना-शक्ति युक्त पदार्थ मनुष्य, पशु आदि प्राणीसमाज के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। अथवा

(ख) भौतिक पदार्थों में चेतनशक्ति तो वास्तव में नहीं आती है, केवल उसका आभास पड़ता है। इस आभास के कारण ही, हाड़, मांस आदि के बने हुए मनुष्य के शरीर में चेतनता प्रतीत होती है। जब एकसे हाड़, मांस के बने हुए शरीरों पर उस दिव्य चेतनमयी कर्त्ता का आभास पड़ता है, तो यह आभास प्रत्येक शरीर पर एकसा ही होना चाहिये, फिर इन शरीरधारी मनुष्यों में इतना अन्तर क्यों? इनमें भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान एवं भावना क्यों? इनके कार्य एक दूसरे से विभिन्न और कहीं-कहीं विपरीत क्यों? इन बातों का कोई सन्तोषप्रद उत्तर उपरोक्त बात मानने से नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त, वास्तव में, आभास का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसका यह अर्थ होता है कि, वास्तव में, मनुष्य में ज्ञान, आनन्द आदि कोई गुण नहीं हैं। ये गुण मनुष्य में, बुद्धि भ्रम के कारण ही, दिखलाई देते हैं। यह परिणाम पूर्व में निश्चित किये हुए आत्म स्वरूप के बिल्कुल विपरीत है, इसलिये बुद्धि को अग्राह्य है।

यदि पहिला तात्पर्य कहा जावे कि 'भौतिक पदार्थ में चेतनशक्ति आ जाती है' तो यह भी पूर्व निश्चित सिद्धान्त—"कोई वस्तु अपने स्वभाव

के विपरीत गुण को धारण नहीं कर सकती"—के विरुद्ध है। जैसे उष्ण स्वरूप अग्नि अपने स्वभाव के विपरीत शीतलता को धारण नहीं कर सकती, उसी प्रकार जड़, अचेतन स्वरूप भौतिक पदार्थ ज्ञान-आनन्दमय चैतन्य स्वरूप के धारण करने में असमर्थ हैं।

इसके अतिरिक्त उस सर्वज्ञ कर्त्ता के अखंड चेतन स्वरूप में से कोई अंश पृथक नहीं हो सकता क्योंकि चेतनशक्ति अखंड है। यदि चेतन-शक्ति में से कुछ अंश का पृथक होना मान लिया जावे, तो इसका परिणाम यह होगा कि उस सर्वज्ञ कर्त्ता की चेतनशक्ति में से अंश धीरे-धीरे पृथक होते जावेंगे और एक समय ऐसा आ जावेगा कि स्वयं सर्वज्ञकर्त्ता चेतन-शक्ति विहीन हो जावेगा। इसलिये यह तात्पर्य भी वुद्धि को अग्राह्य है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यह पक्ष "सर्वज्ञकर्त्ता का प्रतिविम्व कुछ पदार्थों पर पड़ता है, जिससे प्रभावित होकर वे पदार्थ मनुष्य आदि प्राणियों का रूप धारण कर लेते हैं" वुद्धि विरुद्ध और मानने के अयोग्य है।

यदि यह कहा जावे कि एक दिव्य आत्मिक शक्ति का पुंज सर्वज्ञकर्त्ता से पृथक पहिले ही से विद्यमान है, अनन्त सामर्थ्यवान कर्त्ता इस पुंज में से प्राणीसमाज की रचना करता है। ऐसी दशा में कर्त्ता के साथ-साथ प्रत्येक प्राणी का अस्तित्व पहिले ही से मान लिया जाता है और यह कर्त्ता इन प्राणियों का वनाने वाला नहीं रहता है वरन् उस सर्वज्ञ सामर्थ्यवान व्यक्ति का कार्य नियंत्रण व प्रवन्ध करने मात्र रह जाता है।[1]

इसके अतिरिक्त यह प्रश्न स्वभाविक ही उठता है कि दिव्य आत्मिक शक्ति का यह पुंज अखंड द्रव्य है या वालु के परमाणु सदृश, पृथक-पृथक अंशों का वना हुआ है। यदि यह दिव्य आत्मिक शक्ति का पुंज एक अखंड द्रव्य है, तो इसमें से कोई भी अंश पृथक नहीं किया जा सकता। विना

---

[1] इस पर विचार 'क्या कोई कर्मफलदाता है' शीर्षक अध्याय में किया जावेगा।

पूर्व संस्कारों में विभिन्नता नहीं आ सकती है। इसलिये यह मानना ही पड़ता है कि इन बालकों की आत्मायें, इस मनुष्य जन्म से पूर्व, अन्य योनि में रही हैं और उस योनि में इन बालकों की आत्माओं ने भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म किये हैं, जिनके कारण, वर्तमान पर्याय में एकसी परिस्थिति होते हुए भी, इन बालकों में अन्तर है।

अब प्रश्न उठता है कि इन बालकों की आत्माओं ने, पहिली योनि में, भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म क्यों किये थे ? यदि उनकी आत्मायें, पहिली योनि में, सर्वथा एकसी थीं अर्थात् उनके ज्ञान का विकास, मनोवृत्ति, रहन-सहन, कार्यपद्धति, परिस्थिति आदि सब बातें एकसी थीं, तो उन्हें एक से ही कार्य करने चाहिये थे। इनके कार्यों में अन्तर होने का कोई हेतु दिखलाई नहीं देता। इसलिये यह मानना पड़ता है कि इस मनुष्य योनि से पूर्व योनि में भी, इन बालकों की आत्मायें सर्वथा एकसी नहीं थीं। इनकी मनोवृत्ति, ज्ञान व शरीर की स्थिति, कार्यशैली, परिस्थिति आदि में विभिन्नता थी। पूर्व योनि में विभन्नता का कारण, उस योनि से पूर्व के संस्कार मानने होंगे। पूर्व योनि से पूर्व के संस्कार यह बतलाते हैं कि इन दोनों बालकों की आत्मायें, पूर्व योनि से भी पूर्व, अन्य किसी दूसरी योनि में अवश्य रही हैं और उस पूर्व योनि में भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म करने के कारण ही, भिन्न-भिन्न प्रकार के संस्कार बालकों की आत्माओं पर पड़े थे, जिससे पूर्व योनि में भी इन बालकों की आत्मायें सर्वथा एक जैसी न थीं। यदि इसी प्रकार इन बालकों की विभिन्नता का कारण, उनकी आत्माओं पर पूर्व जन्म के भिन्न-भिन्न संस्कार एवं भिन्न-भिन्न संस्कारों के हेतु पूर्व जन्म के भिन्न-भिन्न कार्यों पर विचार करते चले जावें, तो वर्तमान योनि से पूर्व, पहिली योनि निश्चित होती है, उससे पूर्व दूसरी योनि, दूसरी योनि से पूर्व, तीसरी योनि, इसी क्रम से चौथी, पांचवीं आदि अनेक योनियां निश्चित होती हैं। अतीत काल में, जब एक योनि से पूर्व दूसरी योनि के अविरल क्रम पर विचार किया जाता है, तो यह अविरल क्रम समाप्त कहीं

नहीं होता, अतीत काल की अनादि अवस्था में जाकर लय हो जाता है।

इस अनुसन्धान से, हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि जीव अनादि काल से है, इसका निर्माण कभी किसी कर्त्ता के द्वारा नहीं हुआ है, यह जीव मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचर, कीट, पतंग आदि छोटे-छोटे जन्तु, वृक्ष आदि वनस्पति[1] आदि अनेक योनियों में शरीर धारण करता हुआ भ्रमण कर रहा है, भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करने से भिन्न-भिन्न संस्कार उसकी आत्मा पर पड़ते हैं; भिन्न-भिन्न संस्कारों के कारण, भिन्न-भिन्न योनियां, आगामी जीवन में, उसको मिलती हैं; इन्हीं भिन्न-भिन्न संस्कारों के कारण, आगामी जीवन में, जीव के ज्ञान, विकास, भावना, प्रवृत्ति, शरीर निर्माण, कार्यशैली आदि में अन्तर पड़ जाता है।

इस पुस्तक के "मनोविज्ञान अनुसंधान समिति के अनुभव" शीर्षक अध्याय में क्या "शारीरिक मृत्यु हो जाने पर मनुष्य का व्यक्तित्व नष्ट हो

---

[1] प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र वसु (J. C. Bose) के अनुसन्धानों से, यह सिद्ध हो गया है कि पशुओं के शरीर की भाँति, वृक्षों में भी, सूक्ष्म तन्तु (Nerves System) होते हैं। इन्हीं के द्वारा, वे भोजन के रस को एक भाग से दूसरे भाग को पहुंचाते हैं। अन्य प्राणियों के सदृश, वृक्ष भी निद्रा लेते हैं। जैसे किसी शस्त्र आघात से, पशु विह्वल व दुखी होता है, उसी प्रकार आघात से, वृक्ष के सूक्ष्म तन्तुओं में क्षोभ (चंचलता) उत्पन्न हो जाता है। जैसे मनुष्य शरीर में, विष के प्रवेश किये जाने पर, उसकी भौतिक मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार वृक्ष के सूक्ष्म तन्तुओं के भीतर, विष पहुंचा दिये जाने पर, वह वृक्ष सूख जाता है, अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है। वृक्ष के सूक्ष्म तन्तुओं की, पशु शरीर में विद्यमान सूक्ष्म तन्तुओं के साथ सादृश्यता, इस बात को प्रमाणित करती है कि वृक्ष में भी, पशु समाज के सदृश, जीव है। इसके अतिरिक्त, भारत के समस्त धर्म, पशुओं की भांति, वृक्षों में भी, जीव मानते हैं।

जाता है" लघुशीर्षक में कितनी ही घटनाओं को—जिनकी सत्यता वैज्ञानिक पद्धति से भलीभांति सिद्ध हो चुकी है—उद्धृत किया गया है। इन घटनाओं की सत्यता से स्पष्ट है कि शारीरिक नाश होने पर, आत्मा का नाश नहीं होता है, वरन् जीव अन्य योनि में जन्म ले लेता है।

जब जीव अनादि काल से है और मनुष्य, पशु आदि अनेक योनियों में, अनादि काल से ही भ्रमण कर रहा है, तो यह प्रतीत होता है कि इस जीव का विनाश, आगामी काल में भी नहीं होगा; किसी न किसी योनि या दशा में अवश्य विद्यमान रहेगा, क्योंकि जीव की सत्ता का विनाश करने वाला कोई हेतु दिखलाई नहीं देता है। इसके अतिरिक्त विज्ञान का नियम है एवं संसार में भी प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जो उत्पन्न होता है, उसका नाश भी अवश्य होता है; जिसका नाश होता है, वह उत्पन्न भी अवश्य हुआ है। इसी प्रकार जो उत्पन्न नहीं हुआ है, उसका नाश भी नहीं होगा। यह नियम अटल है, इसकी सत्यता, संसार की प्रत्येक घटना में, पाई जाती है। इसकी सत्यता, जिस वस्तु पर चाहो घटित करके देख लो। उपरोक्त कथन से प्रमाणित होता है कि जीव, अनेक योनियों के रूप में आवागमन करता हुआ, अनादि काल से विद्यमान है और अनन्त काल तक रहेगा एवं अनादि काल से ही, कर्म संस्कारों से युक्त, चला आता है।

८—कर्म सिद्धान्त

(१) क्या कोई कर्म फलदाता है ?

जीव के सम्बन्ध में उपरोक्त ज्ञान हो जाने पर, यह जानने की स्वाभाविक उत्कंठा होती है कि प्राणी जो कर्म करता है और जिनके अनुसार उस प्राणी में कुछ संस्कार पड़ जाते हैं, इन संस्कारों का क्या स्वरूप है ? ये संस्कार कहां पर रहते हैं ? किस प्रकार पड़ते हैं ? इनके अनुसार जीव, एक योनि से दूसरी योनि में, कैसे जाता है ? जीव को, उसके पूर्व कर्मों का फल, कैसे मिलता है ? इन प्रश्नों के उत्तर, निम्न दो प्रकार से, दिये जा सकते हैं :—

(क) जैसे कुम्हार, मिट्टी से, घड़े को बनाता है या घड़ी का निर्माता, भिन्न-भिन्न पुर्जों को एकत्रित करके, उपयुक्त स्थानों में जोड़कर, घड़ी को तय्यार कर देता है, उसी प्रकार एक विशेष चेतन शक्ति (ईश्वर) मनुष्य को उसके पूर्व कर्मानुसार फल देती है, एक योनि से दूसरी योनि में ले जाती है, माता के गर्भ से लगाकर यौवनावस्था पर्यन्त पोषण करके, शरीर का निर्माण करती है, विविध प्रकार के ऐश्वर्य की सामग्री जुटाती है या भोजन वस्त्र विहीन दशा में रखती है, ज्ञान के विकास व भावना में विभिन्नता उत्पन्न करती है। सारांश में मनुष्य जीवन में, जो अनेक प्रकार के सुख दुख की घटनायें होती रहती हैं, उन समस्त घटना व कार्यों को, उसके पूर्व कर्मों के फलानुसार, वह विशेष चेतन शक्ति करती रहती है।

(ख) मनुष्य जो कर्म करता है, उन कर्मों का फल देने वाली, एक योनि से दूसरी योनि में ले जाने वाली कोई अन्य विशेष चेतन शक्ति

(ईश्वर) नहीं है। संसार के अनेक पदार्थों की अवस्थाओं में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, परन्तु उन अवस्थाओं में परिवर्तन करने वाला, कोई चेतन व्यक्ति नहीं होता; उनमें परिवर्तन, स्वयं ही, प्राकृतिक नियमों के अनुसार होता रहता है। जैसे जल का, धूप की उष्णता पाकर, भाप बनकर आकाश में उड़ जाना, भाप का आकाश के शीत भाग में पहुंच कर, छोटे-छोटे जलबिन्दुओं के रूप में परिवर्तित होकर, मेघ के रूप में दिखलाई देना, फिर मेघ के भारी होने पर, वर्षा के रूप में, पृथ्वी पर गिरना, बिजली का चमकना, गड़गड़ाहट का घोर शब्द होना आदि अनेक बातें हैं, जिनका संचालक कोई चेतन व्यक्ति नहीं है। ये सब घटनायें व परिवर्तन, प्राकृतिक नियमों के अनुसार, स्वतः होते रहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य को, उसके पूर्व कृत कर्मों का फल देने वाला, एक योनि से दूसरी योनि में ले जाने वाला, माता के गर्भ में, भ्रूण अवस्था से लगाकर यौवन अवस्था पर्यन्त, शरीर की वृद्धि व निर्णय करने वाला एवं जीवन की अन्य बातें निश्चित करने वाला, कोई अन्य विशेष चेतन व्यक्ति, नियन्ता नहीं है, वरन् यह सब कार्य, कुछ गूढ़ नियमों के अनुसार, स्वयं ही हो रहा है।

उपरोक्त प्रथम सिद्धान्त पर—क्या मनुष्य का कर्मफलदाता कोई विशेष चेतन व्यक्ति है—पहिले विचार करना उचित होगा। प्राणियों को, उनके किये हुए कर्मों के अनुसार, फल देने के कार्य की तुलना न्यायाधीश के कार्य से की जा सकती है। संसार में अनन्तानन्त प्राणी हैं। उन सब को उनके कर्मानुसार, फल देने के लिये आवश्यक है कि वह समस्त प्राणी समाज के समस्त कार्यों की पूरी-पूरी सूचना एवं उन कार्यों के फल देने की पूरी-पूरी सामर्थ्य रखे। इसलिये कर्मफलदाता को सर्वज्ञ एवं अनन्त सामर्थ्यवान मानना होगा। किसी विशेष चेतन व्यक्ति को सर्वज्ञ, अनन्त शक्ति युक्त, कर्मफलदाता मानने में, कितनी ही आपत्तियां उपस्थित होती हैं, जिनमें से कुछ नीचे दी जाती हैं :—

(१) ऐसा विशेष चेतन व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होता, इसलिये इस व्यक्ति को अदृश्य, अमूर्त्तिक मानना होगा। यह बुद्धि में नहीं आता कि वह अमूर्त्तिक व्यक्ति, किस प्रकार मनुष्य से मूर्त्तिक पदार्थ को, वनाता होगा, किस प्रकार माता के गर्भ में, भ्रूण से लगाकर यौवन अवस्था पर्यन्त, पोषित करता होगा, धनधान्य, भूषण आदि मूर्त्तिक पदार्थ का संयोग कराता होगा, कैसे मनुष्य की भावना को, शुभ व अशुभ प्रवृत्ति की ओर प्रेरित करता होगा, कैसे मनुष्य की ज्ञान शक्ति का विकास करता होगा आदि—

(२) उस विशेष चेतन व्यक्ति का कार्य, न्यायाधीश तुल्य, वतलाया जाता है। यह देखना है कि मनुष्य के दैनिक कार्यों पर, उस चेतन व्यक्ति, कर्मफलदाता के न्यायकार्य की, कहां तक छाप है। न्यायाधीश का कर्तव्य है कि अपराधी को, उसके अपराध अनुसार, उचित दंड दे। दंड देने के कितने ही अभिप्राय होते हैं, परन्तु उन सव अभिप्रायों का समावेश निम्नलिखित दो अभिप्रायों में हो जाता है :—

(क) अपराधी को उसके अपराध का, ऐसा कठोर दंड दिया जावे कि जिससे वह तथा अन्य व्यक्ति डर जावें और फिर उस प्रकार के अपराध करने का साहस न करें।

(ख) अपराधी को उसके अपराध का दंड, इस प्रकार दिया जावे कि जिससे वह अपराधी सुधर जावे, उसकी मनोवृत्ति में ऐसा परिवर्तन हो जावे कि वह फिर, अपराध करने की ओर प्रवृत्त न हो।

प्रथम अभिप्राय की समीक्षा निम्न प्रकार की जा सकती है :—

मनुष्यों को उनके पूर्व कृत कर्मो का फल इस प्रकार मिलता है या नहीं कि जिससे वे स्वयं तथा मानव समाज ऐसा भयभीत हो जावें कि वह भविष्य में पाप कार्य न करे। जव कोई मनुष्य चोरी करता है, तो उस पर राज्य की ओर से अभियोग लगाया जाता है। यह प्रमाणित होने पर कि उस व्यक्ति ने चोरी की है, न्यायाधीश उसको कारागार,

जुर्माना आदि का उपयुक्त दंड देता है। वह अपराधी व्यक्ति तथा अन्य मनुष्य यह जान जाते हैं कि उस व्यक्ति ने चोरी की थी, इसलिये उसको दंड मिला। चोरी का अपराध एवं उसके फलस्वरूप दंड का ज्ञान होने से, वह व्यक्ति एवं साधारण जन समाज डर जाती है और चोरी करने का साहस नहीं करती है।

यदि किसी देश का शासक या न्यायाधीश किसी व्यक्ति को पकड़वा कर कारागार में डाल दे और उस पर न तो अभियोग लगावे, न यही प्रगट करे कि उसने क्या अपराध किया है। ऐसी दशा में जनता उस व्यक्ति को निर्दोष एवं उस शासक व न्यायाधीश को अन्यायी, स्वेच्छाचारी समझेगी। अपराध एवं उसके फलस्वरूप दंड का ज्ञान न होने से, जनता कदापि उस अपराध के करने से नहीं डरेगी। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति मनुष्य योनि में जन्म लेता है और जन्म से ही नेत्रहीन, अपंग, आदि दूषित शरीर धारण करता है, तो उस व्यक्ति, उसके सम्बन्धी एवं उसके देशवासियों को, यह ज्ञात नहीं होता है कि उस व्यक्ति के जीव ने, पूर्व जन्म में, अमुक पाप कर्म किया था, जिसके फलस्वरूप, उसको इस जन्म में यह दूषित शरीर मिला है। इसी प्रकार जब किसी मनुष्य के शरीर में कुष्ट आदि रोग हो जाता है, तो उस व्यक्ति या अन्य मनुष्यों को यह ज्ञात नहीं होता है कि उसने अमुक-अमुक पाप कर्म पूर्व या इस जन्म में किये हैं, जिनके फलस्वरूप उसके शरीर में कुष्ट आदि रोग हुआ है।

इस मानव समाज के किसी व्यक्ति को भी यह ज्ञात नहीं होता है कि इस मनुष्य योनि में अंगहीनता आदि दोष, जो जन्म से ही कितने मनुष्यों में पाये जाते हैं, या कुष्ट आदि रोग, जो बाद को हो जाते हैं, उन दोषों का क्या सम्बन्ध उन मनुष्यों के पूर्व कृत कर्मों से है। इस सम्बन्ध का ज्ञान हुए बिना, मानव समाज उन अज्ञात पाप कर्मों से किस प्रकार डर सकता है और वह उन पाप कर्मों को फिर क्यों न करेगा। इससे स्पष्ट है कि दंड देने का प्रथम अभिप्राय—मनुष्य को उसके पाप कर्म का ऐसा कठोर

दंड दिया जावे कि जिससे वह स्वयं तथा मानव समाज ऐसा भयभीत हो जावे कि डरकर फिर उस पाप कर्म को न करे—मनुष्य के दैनिक कार्यों से नहीं पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी यहां तक देखा जाता है कि वे मनुष्य, जो निर्बलों पर अत्याचार व दूसरों की धन सम्पत्ति का अपहरण करते हैं, स्वयं विपुल धन सम्पत्ति के स्वामी बन जाते हैं, संसार में अनेक प्रकार के सुख व ऐश्वर्य को भोगते हैं, जाति से भी आदर पाते हैं। इतिहास के पृष्ठ ऐसे सैकड़ों पुरुषों के जीवन चरित्र से रंगे पड़े हैं, जिनका प्रारम्भिक जीवन डाका डालने एवं दूसरों की धन सम्पत्ति को बलपूर्वक हरण करने में व्यतीत हुआ है, परन्तु अनुकूल परिस्थिति के प्राप्त होते ही बड़े-बड़े उच्च पद पर पहुंच गये हैं।[1] इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्राणियों को उनके पूर्व कृत कर्मों के फलस्वरूप दंड देने में, उस विशेष चेतन व्यक्ति कर्मफलदाता का डराने का उपरोक्त अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता।

अब यह देखना है कि दंड देने के दूसरे अभिप्राय का—अपराधी को दंड इस प्रकार दिया जावे कि जिससे उसकी मनोवृत्ति ऐसी बदल जावे कि वह पाप कर्म की ओर प्रवृत्त न हो—प्रभाव कहां तक संसार के मानव समाज के व्यवहार में पाया जाता है। यदि सुधार करने का उद्देश्य है, तो उस न्यायाधीश तुल्य विशेष चेतन व्यक्ति को चाहिये कि प्राणियों को ऐसी परिस्थिति, देश, योनि, जाति, परिवार, माता पिता के यहां उत्पन्न करे कि जहां उत्पन्न होने से उसे उन्नति करने का पूरा-पूरा सुभीता

---

[1] इतिहास के बहुत से उदाहरणों में से एक प्रसिद्ध उदाहरण दिया जाता है :—

अमीरखां जो १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पिंडारियों (जिनका काम लूटना, डाका डालना था) का सर्दार था, टोंक रियासत का नवाब बन गया और उसके वंशज आज तक टोंक में राज्य कर रहे हैं।

मिले। बहुत से वालक ऐसे देश, जाति, परिवार, तथा परिस्थिति में उत्पन्न होते हैं कि जहां चोरी करना, लूटना, डाका डालना, मदिरा पीना, मांस खाना आदि कुत्सित कार्य अच्छे समझे जाते हैं और उनकी जीविका ऐसे ही कार्यों पर निर्भर है। भील, भातू आदि कितनी ही जातियां हैं, जिनमें लूटना, चोरी करना, शिकार खेलना आदि हीन कार्य अच्छे समझे जाते हैं। ये जातियां मनुष्य के प्राण ले लेना भी बुरा नहीं समझती हैं। कुछ जातियों की नैतिक अवस्था इतनी हीन है कि उनमें चोरी करना आदि कुत्सित कार्य, केवल प्रचलित ही नहीं, वरन् प्रशंसा की दृष्टि से देखे जाते हैं। इन जातियों में कुमारों के विवाह उस समय तक नहीं होते हैं, जब तक कि वे उपरोक्त अपराधों में जेल की सजा काट न आये हों। खटीक, क़साई आदि कितनी ही जातियां हैं, जिनमें गाय, बैल, बकरे आदि पशुओं की हत्या का व्यापार होता है। कुछ देश इतने ठंडे व वर्फ़ से ढके रहते हैं कि वहां किसी प्रकार की कृषि हो ही नहीं सकती है। वहां के निवासियों को मछली आदि जलचरों के शिकार पर ही निर्भर रहना पड़ता है। वैश्या आदि कुछ ऐसी वृत्तियां हैं कि जहां की परिस्थिति कन्याओं को व्यभिचार रूप वेश्यावृत्ति के लिये विवश कर देती है।

कुछ देश, जाति, परिवार आदि की ऐसी परिस्थिति है कि जहां नवजात शिशु धीरे-धीरे अपने कुटुम्ब, माता पिता, भाई बहिन, पड़ौसी व ग्रामवासियों के कार्यों को देखते-देखते तथा उनका अनुकरण करते-करते जाति के समस्त कुत्सित संस्कारों को ग्रहण कर लेता है। बड़ा होने पर सहज ही में जाति में प्रचलित मद्यपान, चोरी आदि कुत्सित कार्य को करने लगता है। ये विचार कभी भी उत्पन्न नहीं होते हैं कि चोरी आदि कार्य अनुचित हैं। यह बुद्धि में नहीं आता है कि सर्वज्ञ कर्मफलदाता ने इन भील, भातू आदि जाति, व परिवारों में उत्पन्न करके वालकों का क्या सुधार किया। इन जातियों के कलुषित वातावरण में उत्पन्न होकर—जहां जन्म लेने के कारण ही, इन वालकों की प्रवृत्ति मद्यपान, चोरी आदि पाप कार्यों में

होने लगती है—इनका अहित हुआ है । उस विशेष चेतन व्यक्ति को ऐसे देश, जाति, परिवार एवं परिस्थिति में वालकों को उत्पन्न करना चाहिये था कि जहां जन्म लेने से, उन्हें अपनी आन्तरिक शक्तियों के विकास, ज्ञान उपार्जन एवं शुभ भावनाओं के प्रसार का पूरा-पूरा अवसर मिलता । इससे स्पष्ट है कि सर्वज्ञ कर्मफलदाता का दंड देने का अभिप्राय सुधारना कदापि नहीं हो सकता ।

इस प्रकार उस विशेष चेतन व्यक्ति का कार्य न्यायाधीश तुल्य कदापि नहीं है, क्योंकि दंड देने के दोनों अभिप्रायों की—दंड को देखकर अपराधी एवं जनता डर जावे, या दंड को पाकर अपराधी सुधर जावे—झलक मानव समाज़ के व्यवहार में तनिक भी दिखलाई नहीं देती है ।

(३) जो दंड देने की सामर्थ्य रखता है, उसमें अपराध रोकने की भी शक्ति होनी चाहिये । यदि किसी शासक में यह सामर्थ्य है कि डाकुओं के दल को, उसके अपराध के दंड स्वरूप जेल में वन्द अथवा प्राणदंड दे सकता है, तो उस शासक में यह भी शक्ति होती है कि यदि उसको यह ज्ञात हो जावे कि डाकुओं का दल अमुक गृह में अमुक समय पर डाका डालकर धन अपहरण एवं गृहवासियों की हत्या करेगा, तो डाका डालने से पहिले ही, उस डाकुओं के दल को पुलिस अथवा सेना के द्वारा डाका डालने के घोर अपराध करने से रोक दे । कर्मफलदाता ईश्वर तो सर्वशक्तिमान, दयालु, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी है । वह जानता है कि कौन अपराध करेगा । उसे चाहिये कि अपराध करने वाले की भावना बदल दे अथवा उसके मार्ग में ऐसी अड़चनें उपस्थित कर दे कि जिससे वह अपराध करने में सफल न हो सके ।

यदि वह अपराध करने वाले के इरादे को जानता है और अपराव रोकने की सामर्थ्य भी रखता है, परन्तु रोकता नहीं है, अपराव करने देता है और फिर अपराध के फलस्वरूप दंड देता है, तो उसको दयालु व न्यायी नहीं कहा जा सकता । उसको स्वेच्छाचारी, कर्तव्यविमुख कहना होगा ।

(४) संसार में अनन्त जीव हैं। प्रत्येक जीव मन, वचन व शरीर द्वारा प्रति क्षण कुछ न कुछ कार्य करता रहता है। क्षण-क्षण की क्रियाओं का इतिहास लिखना एवं उनका फल देना, यदि असम्भव नहीं, तो अत्यन्त दुष्कर है। जब एक जीव के क्षण-क्षण के कार्य का ब्योरा रखना एवं उसका फल देना इतना कठिन है, तो संसार के अनन्त जीवों की क्षण-क्षण क्रियाओं का ब्योरा रखना एवं उनका फल देना उस विशेष चेतन व्यक्ति के लिये कैसे सम्भव होगा ? इसके अतिरिक्त संसार के अनन्त जीवों के क्षण-क्षण कर्मों के फल देने में लगे रहने से, उस विशेष चेतन व्यक्ति का चित्त कितना चिन्तित व व्यथित होगा और वह कैसे शान्ति आनन्द स्वरूप में मग्न रह सकेगा ? इन प्रश्नों का कोई सन्तोष-प्रद उत्तर समझ में नहीं आता।

उपरोक्त कारणों से उन सज्जनों को—जिनकी यह धारणा है कि कोई विशेष चेतन व्यक्ति कर्त्ता या ईश्वर जीवों को कर्म फल देता है—इस बात पर आना पड़ेगा कि उस विशेष चेतन व्यक्ति ने, पहिले ही से, कुछ नियम इस जगत के लिये बना रखे हैं। उन नियमों के अनुसार प्रत्येक जीव को उसके किये हुए कर्मों का फल स्वतः मिलता रहता है। कर्मफल देने में वह सर्वज्ञ चेतन व्यक्ति न अपने ज्ञान को प्रयोग में लाता है और न उससे किंचित भी चिन्तित व व्यथित होता है। वह तो संसार के समस्त पदार्थ एवं उनकी अवस्थाओं को पूर्णतया जानता हुआ सदैव शान्ति व आनन्द में मग्न रहता है।

यह पहिले ही निर्णय हो चुका है कि जीव अनादि काल से है और भिन्न-भिन्न योनियों में कर्म करता हुआ भ्रमण कर रहा है। जब जीव एवं उसका कर्म करते रहना अनादि काल से चला आ रहा है, तो उन नियमों का अस्तित्व—जिनके अनुसार जीव को कर्म फल मिलता है—अनादि काल से ही मानना होगा। इस प्रकार इन नियमों का अस्तित्व अनादि काल से ही निश्चित होता है। ऐसी दशा में इन नियमों के बनने का

न कोई समय ही निश्चित हो सकता है और न इनका बनाने वाला ही हो सकता है। यदि कोई सर्वज्ञ अनन्त सामर्थ्यवान व्यक्ति है, तो वह केवल दृष्टा, ज्ञाता ही हो सकता है। कर्मफलदाता नहीं हो सकता। इस विवेचन से यही निश्चित होता है कि प्राणियों को उनके किये हुए कर्मों का फल, कुछ गूढ़ नियमों के अनुसार, स्वतः मिल रहा है और इन्हीं गूढ़ नियमों के अनुसार, प्राणी एक योनि छोड़कर दूसरी योनि धारण करता है।

(२) सिद्धान्तिक विवेचन

(क) कर्म फल देने वाली शक्ति स्वयं प्राणी के भीतर सूक्ष्म शरीर के रूप में विद्यमान है

यह निर्णय हो जाने पर कि प्राणियों को उनके कर्मों का फल किसी अन्य विशेष चेतन शक्ति, व्यक्ति, नियन्ता या ईश्वर के द्वारा नहीं मिलता है, वरन् कुछ गूढ़ नियमों के अनुसार स्वतः मिल रहा है; उन गूढ़ नियमों का पता लगाना अत्यन्त आवश्यक है। इनके ज्ञात हो जाने पर, संसार का रहस्य एवं मानुषिक जीवन की अनेक समस्याओं का समाधान कितने ही अंशों में हो जावेगा।

प्रायः मनुष्यों को उनके कर्मों का फल उनकी इच्छानुसार नहीं, प्रत्युत इच्छा के विरुद्ध ही मिलता है। जैसे कोई व्यक्ति, स्वाद् इन्द्रिय के वशीभूत होकर, अस्वास्थ्यकर भोजन करता है, तो उसके शरीर में व्याधि उत्पन्न हो जाती है। वह व्यक्ति उस व्याधि का तनिक भी इच्छुक नहीं है। उसकी इच्छा तो यही है कि उसके शरीर में कोई व्याधि उत्पन्न न हो, परन्तु स्वास्थ्य विरुद्ध, हानिप्रद भोजन करने का फल, व्याधि के रूप में, उसको अपनी इच्छा के विरुद्ध भोगना ही पड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य को अपने कर्मों का फल, अपनी इच्छा के न होते हुए भी, भोगना ही पड़ता

है। इससे प्रगट होता है कि कर्मफल देने वाले नियम एक प्रकार की शक्ति (Energy) के रूप में हैं, जो मनुष्य की इच्छा व मानुषिक (आत्मिक अथवा शारीरिक) शक्ति के विरुद्ध होते हुए भी, अपना कार्य करते रहते हैं : यदि ये कर्मफल देने वाले नियम शक्ति के रूप में न हों, तो ये नियम, मनुष्य की इच्छा एवं शक्ति के विरुद्ध होने पर, अपने कार्य के सम्पादन में कदापि समर्थ नहीं हो सकते। इसलिये यही मानना पड़ता है कि ये कर्मफल देने वाले नियम शक्ति (Energy) के रूप में हैं। यह शक्ति न तो चेतन है और न किसी चेतन व्यक्ति में केन्द्रित होकर कार्य कर रही है, जैसा कि पहिले अध्याय में निश्चय किया जा चुका है। इसलिये इस शक्ति को अचेतन ही मानना पड़ेगा।

अब यह प्रश्न उठता है कि यह कर्मफल देने वाली शक्ति कहां रहती है? किस स्थान विशेष पर केन्द्रित है? मनुष्य के भीतर केन्द्रित है या वाहर?

संसार में अनन्तानन्त जीव हैं, जो इस जगत के भिन्न-भिन्न भागों में, भिन्न-भिन्न योनियों को धारण किये हुए, भिन्न-भिन्न प्रकार का कार्य करते रहते हैं। कर्मफल देने वाली शक्ति, मनुष्य से वाहर किसी अन्य विशेष चेतन व्यक्ति, नियन्ता या ईश्वर में केन्द्रित नहीं है (जैसा कि अभी निर्णय किया जा चुका है)। यह वुद्धि में नहीं आता है कि यह कर्मफल देने वाली अचेतन शक्ति (Energy), प्राणियों के शरीर से वाहर, आकाश या जगत के किसी अन्य स्थान पर केन्द्रित होकर, भिन्न-भिन्न स्थानों के निवासी, अनेक योनियों के धारक, भिन्न-भिन्न जीवों को भिन्न-भिन्न कार्यों का, भिन्न-भिन्न फल देती हो। यह देखा जाता है कि प्राणियों के कार्य प्रायः भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं; कोई व्यक्ति शुभ भावना से प्रेरित होकर परोपकार का कार्य कर रहा है, उसी समय दूसरा व्यक्ति लोभकषाय के वशीभूत हुआ, किसी अन्य मनुष्य के धन अपहरण के कार्य में लगा हुआ है। इस प्रकार, एक ही समय में, भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-

भिन्न प्रकार के कार्य कर रहे हैं। कभी-कभी तो कुछ व्यक्तियों के कार्य परस्पर एक दूसरे के पूर्णतया विरोधी होते हैं, जैसे एक व्यक्ति किसी पशु के साथ क्रूरता का वर्त्ताव करता है, उसी समय दूसरा व्यक्ति उसी अथवा अन्य पशु के साथ दया का वर्ताव करता है। इन दोनों व्यक्तियों के कार्य परस्पर एक दूसरे से विरोधी हैं, इसलिये इन दोनों व्यक्तियों से परस्पर विरोधी कार्य कराने वाली शक्ति भी, एक दूसरे से भिन्न होनी चाहिये। ऐसी दशा में वह कर्मफल देने वाली अचेतन शक्ति, किसी एक विशेष स्थान पर केन्द्रित रहकर, कैसे परस्पर विरोध रूप कार्य करेगी ! इससे यही अनुमान होता है कि यह कर्मफल देने वाली शक्ति, शरीर से वाहर, किसी स्थान पर केन्द्रित नहीं है, वरन् प्रत्येक प्राणी के भीतर स्वयं विद्यमान है। जिस प्रकार जीव, शक्ति रूप से समान होते हुए भी, भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार यह कर्मफल देने वाली शक्ति, एकसी होते हुए भी, प्रत्येक प्राणी में भिन्न-भिन्न है।

जीवों की शरीर वृद्धि पर विचार करने से भी, यही निश्चित होता है कि कर्मफल देने वाली शक्ति स्वयं मनुष्य के भीतर विद्यमान है। जो शक्तियां वाहर से कार्य करती हैं, वे विकास के रूप में वृद्धि नहीं कर सकतीं। वायु में, गमन क्रिया होने से, एक प्रकार की शक्ति है. जो वालू को उड़ाकर उसका ढेर लगा देती है। यह वायु की शक्ति पहिले थोड़ी वालू का स्तर (तह) लगाती है, फिर उसके ऊपर वालू का दूसरा स्तर रखती है। इस प्रकार वालू का स्तर एक के ऊपर दूसरा रखते-रखते ढेर हो जाता है। जलप्रवाह के वेग में एक प्रकार की शक्ति होती है। प्रायः देखा जाता है कि जल प्रवाह सच्चिकण मृतिका का एक ऊंचा विस्तरित चौरस ढेर लगा देता है। जल प्रवाह मृतिका को वहाकर लाता है, अपने प्रवाह के वेग से, एक ओर किनारे पर, मृतिका का विस्तरित परन्तु पतला स्तर लगा देता है। उसी नदी का दूसरा प्रवाह उसी ओर किनारे पर, पहिली मृतिका के स्तर के ऊपर, मृतिका का दूसरा स्तर लगा देता है। धीरे

धीरे, कितने ही एक के ऊपर दूसरे स्तर मिलकर, एक ऊंचे विस्तरित चौरस ढेर का रूप धारण कर लेते हैं। वायु गमन, जल प्रवाह वेग के सदृश जितनी भी वाह्य शक्तियां होती हैं, यदि वे किसी वस्तु को बनाती हैं, तो पहिले उस वस्तु के थोड़े से अंश को एकत्रित करती हैं, फिर धीरे धीरे उस वस्तु के अन्य अंशो को, उसी पहिले स्थान पर संचय करके, उस वस्तु का निर्माण करती हैं।

इसी प्रकार राज जब मकान बनाता है, तो उसको ईंटें, एक के ऊपर दूसरी, रखनी होती हैं। कारीगर को किसी मशीन के बनाने में पुर्जे ऊपर नीचे रखने होते हैं। इस प्रकार जितनी भी वाह्य चेतन या अचेतन शक्तियां कार्य करती हैं, वे, वाहर से ऊपर नीचे या बग़ल में रखकर, वस्तु का निर्माण करती हैं, ये वाह्य शक्तियां, अन्दर से विकास रूप में वृद्धि करते हुये, किसी वस्तु का निर्माण नहीं करती हैं।

मनुष्य शरीर की वृद्धि पर विचार कीजिये। माता के गर्भाशय में, पिता का वीर्य व माता का रज. परस्पर सम्मिश्रण होनेपर, कलल (organism) की अवस्था में परिवर्त्तित हो जाता है, यह कलल, वृद्धि करता करता, भ्रूण दशा को प्राप्त होता है। नवमास पश्चात् यह भ्रूण, माता के गर्भ से निकल कर, छोटे से शिशु का रूप धारण कर लेता है। शिशु धीरे धीरे वृद्धि करता हुआ, बीस पच्चीस वर्ष में, नवयुवक बन जाता है। यह वृद्धि कलल के भीतर से होती है। कलल धीरे धीरे परन्तु लगातार अन्दर से चारों ओर को बढ़ता है, भ्रूण की अवस्था धारण करके, धीरे धीरे उसके भीतर से, हस्त पाद आदि इन्द्रियों का विकास होता है। भ्रूण, वृद्धि करता करता माता के गर्भ से निकलकर, शिशु बन जाता है। विकास के रूप में, शिशु का प्रत्येक अंग, सब ओर को उचित ढंग से वृद्धि करता हुआ, नवयुवक का रूप धारण कर लेता है। कलल व शिशु की विकास रूप में वृद्धि, इस बात को बतलाती है कि वृद्धि करने वाली शक्ति उसके भीतर विद्यमान है। यदि यह वृद्धि करने वाली शक्ति, कलल से वाहर, किसी स्थान पर केन्द्रित

होती, तो इस प्रकार विकास के रूप में वृद्धि कलल को नवयुवक अवस्था तक कदापि नहीं पहुंचाती। इस अन्वीक्षण से इस परिणाम पर पहुंचा जाता है कि कर्मफल देनेवाली शक्ति, प्रत्येक प्राणी के अन्दर, स्वयं विद्यमान है, किसी वाह्य स्थान पर केन्द्रित नहीं है।

यह ज्ञात हो जाने पर कि कर्मफल देनेवाली शक्ति मनुष्य के भीतर रहती है, यह जानना शेष रह जाता है कि यह शक्ति, मनुष्य के अन्दर किस स्थान विशेष पर, केन्द्रित रहती है? इसका आधार क्या है? यह शक्ति मनुष्य के भीतर, उसकी आत्मा अथवा भौतिक स्थूल या सूक्ष्म शरीर में, केन्द्रित है? कोई शक्ति विना किसी आधार के विद्यमान नहीं रहती है। उष्णता, विद्युत, आकर्षण, प्रकाश आदि जितनी शक्तियां (Energies) हैं, उनके आधार प्राकृतिक स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ होते हैं। उन्हीं के सहारे, ये शक्तियां एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंच जाती हैं। इसलिये इस कर्म फल देनेवाली शक्ति का भी कोई आवार, मनुष्य के भीतर, अवश्य होना चाहिये।

इस कर्म फल देने वाली शक्ति का आधार, मनुष्य के भीतर, उसका आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा का स्वभाव ज्ञान व आनन्दमयी है और कर्म फल देनेवाली शक्ति का कार्य, उस आत्मा के ज्ञान, आनन्द आदि गुणों को, आच्छादित व विकृत करना है, जिसके कारण ज्ञान स्वरूप आत्मा, मनुष्य के भीतर, अल्प ज्ञानी वन जाता है एवं उसका शांति, आनन्दमय स्वरूप, विकृत होकर, रागद्वेष आदि अनेक प्रकार की भावनाओं के रूप में, प्रदर्शित होता है। इस भांति कर्म फल देनेवाली शक्ति का कार्य, आत्मा के ज्ञान आनन्दमयी स्वरूप को आच्छादित व विकृत करके, अज्ञान व वासना युक्त वनाना है। अतः कर्म फल देनेवाली शक्ति का स्वभाव आत्मा के ज्ञान आनन्द स्वरूप के नितान्त विपरीत एवं विरोधी है। यह पूर्व ही निश्चित किया जा चुका है कि कोई भी वस्तु, शीत उष्णता के सदृश, परस्पर विरोधी गुणों को, एक ही साथ, धारण नहीं कर सकती है। इस-

लिये आत्मा, अपने स्वरूप को विकृत एवं आच्छादित करने वाली, कर्म फल देने वाली शक्ति का आधार नहीं बन सकता।

अतएव इस कर्म फल देने वाली शक्ति का आधार, मनुष्य में आत्मा से विभिन्न, शरीर आदि भौतिक पदार्थ को ही मानना होगा, जैसे उष्णता, विद्युत आदि शक्तियों का आधार प्राकृतिक पदार्थ हैं, उसी प्रकार कर्म फल देने वाली शक्ति का आधार भी प्राकृतिक पदार्थ ही है।

कर्म फल देने वाली शक्ति के कारण, जीव को उसके पूर्व कर्मों का फल मिलता है। यही शक्ति जीव को, शारीरिक मृत्यु होने के पश्चात्, एक योनि से दूसरी योनि में, ले जाती है। यही शक्ति, मनुष्य शरीर के निर्माण सम्बन्धी अनेक अवस्था एवं जीवन सम्बन्धी अनेक बातों को, निर्धारित करती है। इस शक्ति के इन कार्यों से मानना पड़ता है कि यह शक्ति जीव के साथ, प्रत्येक दशा में, विद्यमान रहती है। जब जीव एक योनि से दूसरी योनि में जाता है, अर्थात् जब जीव, एक योनि में धारण किये हुये भौतिक स्थूल शरीर को त्याग कर, दूसरी योनि में अन्य भौतिक स्थूल शरीर को धारण करता है, उस शरीर परवित्तंन के समय में भी, यह शक्ति उस आत्मा के साथ रहती है, यदि शरीर परिवर्तन के समय, यह शक्ति आत्मा के साथ न रहे, तो यह जीव एक योनि से दूसरी योनि में नहीं जा सकता है और न इसको पूर्व योनिकृत कर्मों का फल, आगामी योनि में ही, मिल सकता है। इससे सिद्ध होता है, कि कर्म फल देने वाली शक्ति को धारण करने वाले पुद्गल के परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म हैं, जो, मनुष्य की मृत्यु के समय भौतिक स्थूल शरीर के पृथक् होने पर भी, नेत्रों से अदृष्ट हुये आत्मा के साथ साथ, एक योनि से दूसरी योनि में, चले जाते हैं। ये परमाणु इतने सूक्ष्म हैं कि मृतिका आदि स्थूल पदार्थों के बने हुये गृह की दीवाल, छत आदि में भी प्रवेश करके, सरलता-पूर्वक, आत्मा के साथ साथ, निकल जाते हैं।

इस विवेचन से इस परिणाम पर पहुंचा जाता है कि कर्म फल देने वाली शक्ति के आधार, पुद्गल के सूक्ष्म परमाणु हैं और ये सूक्ष्म परमाणु, आत्मा के साथ, प्रत्येक दशा में, रहते हैं। आत्मा, शरीर के किसी भाग में, केन्द्रित नहीं है, वरन् सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इसलिये कर्मफल देने वाली शक्ति के आधार, सूक्ष्म परमाणुओं को भी, आत्मा के साथ साथ, उस प्राणी के सम्पूर्ण शरीर में ही, व्याप्त मानना होगा। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि कर्म फल देने की शक्ति धारक सूक्ष्म परमाणु, सूक्ष्म शरीर के रूप में, आत्मा के साथ साथ, रहते हैं।

इसके अतिरिक्त, उपरोक्त विषय पर, जब विचार किया जाता है कि आत्मा सा अदृश्य, अमूर्त्तिक, सूक्ष्म पदार्थ किस प्रकार, स्थूल भौतिक शरीर में, बंधित व सीमित है, तो हृदय से ध्वनि निकलती है कि आत्मा से अमूर्त्तिक पदार्थ को, शरीर से स्थूल भौतिक पदार्थ में, सीमित रखने के लिए, कोई न कोई सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्म भौतिक परमाणुओं का बना हुआ होना चाहिये। इस अनुमान से भी, उपरोक्त अनुसन्धान से निश्चित किये हुये परिणाम की पुष्टि होती है।

सुगमता की दृष्टि से **'कर्म फल देनेवाली शक्ति'** को **'कर्म शक्ति'** 'कर्म फल देने वाली शक्ति के धारी परमाणुओं' को **'कर्म परमाणु'** या **'कर्म'**, कर्म फल देने की शक्तियुक्त परमाणुओं के समूह सूक्ष्म शरीर को **'सूक्ष्म शरीर'** या **'कार्माण शरीर'** के नाम से लिखना उचित होगा।

(ख) कर्मफल किस प्रकार मिलता है ?

इस सूक्ष्म शरीर को, प्राणी के द्वारा किये गये समस्त पूर्व कर्मों के फल देने की शक्ति से युक्त सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का पुंज मानना होगा। इसी सूक्ष्म या कार्माण शरीर को, एक योनि से दूसरी योनि में ले जाने वाला, माता के गर्भ में कलल से भ्रूण, भ्रूण से शिशु, युवक व वृद्ध करने वाला, शरीर सम्बन्धी अन्य बातें निर्धारित करने वाला, आत्मा की पूर्ण

ज्ञान शक्ति को आवृत करके अज्ञानी एवं अल्पज्ञ बनाने वाला, आत्मा के शुद्ध आनन्द स्वरूप को विकृत करके काम क्रोध आदि भावना में परिणत करने वाला आदि मानना होगा।

यह मान लेने से कि मनुष्य द्वारा किये गये समस्त पूर्व कर्मों के फल देने वाली शक्ति इस सूक्ष्म **कार्माण शरीर में** निहित है, यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य को जब उसके किसी पूर्व कर्म का फल मिल जाता है, तो उस कर्म से सम्बन्धित इस **कार्माण शरीर** के परमाणु, कर्म फल देने की शक्ति से, विहीन हो जाते हैं। कर्म शक्ति से विहीन होकर इन कर्म परमाणुओं की दशा साधारण परमाणु सदृश हो जाती है। साधारण परमाणु सदृश हो जाने से, इनका सम्बंध सूक्ष्म कार्माण शरीर से छूट जाता है एवं उससे पृथक् हो जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य जब नवीन कर्म करता है, तो उस कर्म के अनुसार फल देने वाली शक्ति, कुछ नवीन सूक्ष्म परमाणुओं में, उत्पन्न हो जाती है और ये कर्म शक्ति युक्त परमाणु, उस मनुष्य के पूर्व से विद्यमान सूक्ष्म कार्माण शरीर में प्रवेश करके सम्मिलित व सम्बन्धित हो जाते हैं।

उपरोक्त बात को, दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि जैसे दो पदार्थों के परस्पर संघर्षण से, उष्णता शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो कुछ समय तक स्थित रह कर, आकाश में लुप्त हो जाती है, या जैसे सिर के केशों में सेलूलायड (Celluloid) का कंघा करने से, कंघे में आकर्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण, वह कंघा रुई के बारीक तन्तुओं को आकर्षित करने लगता है। यह शक्ति कुछ समय तक उस कंघे में रहती है और फिर नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति मन, वचन या शरीर से कोई कार्य करता है, तो उसके समीपवर्त्ती चारों ओर के सूक्ष्म परमाणुओं में हलन चलन क्रिया उत्पन्न हो जाती है[1]। ये पर-

---

[1]विज्ञान के आविष्कार 'बेतार के तार'(Wireless Telegraphy),

माणु आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं, उनमें उस व्यक्ति के कर्मानुसार फल देने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इन कर्म शक्ति युक्त परमाणुओं का, एक क्षेत्रावगाह (एक क्षेत्र में रहने वाला) सम्बन्ध, आत्मा के साथ हो जाता है एवं ये कर्मशक्तियुक्त परमाणु, पूर्व से विद्यमान सूक्ष्म शरीर में, सम्मिलित हो जाते हैं। कुछ समय पश्चात्, जब ये कर्म परमाणु कार्यान्वित होते हैं, तो उनका प्रभाव उस व्यक्ति पर पड़ने लगता है; उसकी मनोवृत्ति में अन्तर पड़ जाता है; राग द्वेष, काम क्रोध रूप भावना हो जाती है। ज्ञान शक्ति के विकास में परिवर्तन हो जाता है, उसके शरीर की गति बदल जाती है, वाह्य पदार्थों के संयोग होने से, वह सुख या दुख अनुभव करने लगता है। इस प्रकार उस व्यक्ति को, अपने पूर्व कर्मों का फल मिलने लगता है। जब इन कर्म परमाणुओं की कर्म शक्ति कार्य करते करते समाप्त हो जाती है, तो ये कर्म परमाणु कर्मशक्ति विहीन हो जाते हैं एवं इनका सम्बन्ध आत्मा तथा सूक्ष्म कार्माण शरीर से छूट जाता है।

उपरोक्त बातें जान लेने पर, यह जानना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि प्राणियों के विचार, वचन या शरीर द्वारा कार्य करने में कौन-सी विशेषता है कि जिससे सूक्ष्म परमाणुओं में कर्मफल देने वाली शक्ति उत्पन्न हो जाती है और जिससे ये कर्म शक्ति युक्त परमाणु आत्मा के साथ सम्बन्धित हो जाते हैं। इस विशेषता को जानने के लिये विचार, वचन या शरीर द्वारा किये हुये कार्य का सूक्ष्म दृष्टि से अन्वीक्षण

रेडियो आदि के कार्य से निर्विवाद सिद्ध है, कि जब कोई कार्य करता है, तो उसके समीपवर्त्ती वायुमंडल में हलन चलन क्रिया उत्पन्न हो जाती है और उससे उत्पन्न लहरें चारों ओर को बहुत दूर तक फैल जाती हैं। इन्हीं लहरों के पहुंचने से शब्द, बिना तार के रेडियो द्वारा, एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंच जाता है।

करना होगा। मनुष्य के कार्य को तीन अंशों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) हलन चलन मात्र क्रिया—जो प्रत्येक व्यक्ति के शारीरिक कार्य करने, वचन बोलने या मस्तिष्क द्वारा विचारने पर, शरीर के किसी भाग या सम्बन्धित सूक्ष्म तन्तुओं (Nerves) में हलन-चलन क्रिया के रूप में होती है।

(२) विचारने, जानने मात्र क्रिया—जो विचारने पर मस्तिष्क द्वारा होती है।

(३) भावना मात्र क्रिया—रागद्वेष आदि भावनाओं में से किसी एक या अधिक भावना का होना, जो प्रायः प्रत्येक मानसिक चेष्टा, वचन एवं शारीरिक क्रिया के साथ पायी जाती है।

(१) मनुष्य का शरीर, मुख व मस्तिष्क भौतिक पदार्थों का बना हुआ है। शरीर के समस्त अवयव भौतिक पदार्थों से ही उत्पन्न होते हैं, अग्नि द्वारा भस्म किये जाने पर, भौतिक पदार्थों में ही परिवर्तित हो जाते हैं। भौतिक पदार्थों में हलन-चलन, परस्पर संघर्षण आदि होने से उष्णता, विद्युत आदि शक्तियां[1], वायुमंडल में लहरें आदि उत्पन्न होती हैं, परन्तु उनसे कर्म फल देने वाली शक्ति उत्पन्न होती हुई कभी दिखलाई नहीं देती। मनुष्य के शरीर, मुख व मस्तिष्क (जो भौतिक पदार्थ के बने हैं) के केवल हलन-चलन मात्र क्रिया से सूक्ष्म परमाणुओं में—जो प्रत्येक स्थान में भरे पड़े हैं—हलन-चलन तो अवश्य होता है परन्तु उससे कर्म-शक्ति का उत्पन्न होना बुद्धि असंगत है।

---

[1] विज्ञान की पुस्तकों से यह भलीभांति जाना जा सकता है कि भौतिक पदार्थों के हलन चलन से किस प्रकार उष्णता, डायनमो आदि यंत्रों के द्वारा विद्युत आदि शक्ति उत्पन्न की जाती है, कैसे वायुमंडल में लहरों द्वारा, शब्द से उत्पादित हलन चलन क्रिया, एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाती है।

(२) विचारना, जानना, अनुभव करना—ये सब ज्ञान के रूपान्तर हैं, ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। यह पूर्व ही सिद्ध किया जा चुका है कि प्रत्येक व्यक्ति शक्ति रूप से सर्वज्ञ है। आत्मा की यह पूर्ण ज्ञान शक्ति, कर्म परमाणुओं के समूह सूक्ष्म कार्माण शरीर से आच्छादित होकर, कितने ही अंशों में अव्यक्त हो गई है, जिसके कारण मनुष्य अज्ञानी एवं अल्पज्ञ दिखलाई देता है। आत्मस्वभाव होने के कारण ज्ञान से, कोई भी कार्य आत्मस्वभाव के विपरीत सम्पादन नहीं हो सकता, न कोई शक्ति ही उसके विरुद्ध उत्पन्न हो सकती है, जैसे अग्नि का स्वभाव उष्ण होने के कारण, उष्णता से अपने स्वरूप विरुद्ध शीतलता उत्पन्न नहीं हो सकती है। कर्म शक्ति का कार्य आत्मा की ज्ञान आनन्द आदि शक्तियों का आच्छादन एवं आघात करना है, इसलिये कर्म शक्ति आत्म-स्वरूप ज्ञान से उत्पन्न नहीं हो सकती।

इस प्रकार कार्य के तीन अंशों में से, प्रथम दो अंश—हलन-चलन मात्र क्रिया एवं विचारने मात्र क्रिया—से कर्म शक्ति उत्पन्न नहीं होती है, इसलिये कार्य के तृतीय अंश, भावना को ही कर्म शक्ति का उत्पादक मानना होगा। इस विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि मन, वचन या शरीर द्वारा कार्य करने के समय, किसी व्यक्ति की रागद्वेष, काम, क्रोध, मद, लोभ, परोपकार, दया आदि भावनाओं में से जैसी भावना होती है, उसी भावना के अनुसार, समीपवर्ती सूक्ष्म परमाणुओं में, कर्म फल देने वाली शक्ति, उत्पन्न हो जाती है। भावनायें अनेक प्रकार की होती हैं, इसलिये कर्म परमाणुओं में भी विभिन्न प्रकार के कर्म फल देने वाली शक्ति, इसी प्रकार उत्पन्न हो जाती है, जैसे रेडियो द्वारा ब्राडकास्ट करने पर, शब्द जितने प्रकार के होते हैं, उन्हीं के अनुसार, वायुमंडल की लहरों में, विभिन्नता उत्पन्न हो जाती है, जिसके द्वारा शब्द सहस्रों मील तक, उसी दशा में पहुँच जाते हैं।

इन कर्म परमाणुओं का एक क्षेत्रावगाह (एक ही स्थान में रहने

परमाणुओं को मुख्यतया निम्न लिखित आठ भेदों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) ज्ञानावरणीयकर्म[1]—कर्म शक्तियुक्त परमाणुओं में से वे परमाणु, जिन्होंने आत्मा के समस्त पदार्थ के पूर्णतया जानने की ज्ञान शक्ति को, इस प्रकार आच्छादित कर दिया है, जिस प्रकार मेघ पटल सूर्य प्रकाश को आच्छादित कर देते हैं। जितना जितना मेघपटल का आवरण अधिक होता है, उतना ही सूर्य का प्रकाश कम दिखालाई देता है। जितना आवरण हल्का होता है, उतना ही प्रकाश अधिक आता है। यही दशा ज्ञान को आवृत करने वाले ज्ञानावरणीय कर्म की है, जितना आवरण इस कर्म का अधिक होगा, उतना ही ज्ञान मनुष्य में कम दिखलाई देगा और जितना आवरण इस कर्म का हल्का होगा, उतना ही अधिक ज्ञान उसमें पाया जावेगा।

(२) दर्शनावरणीय[1] कर्म—कर्म शक्तियुक्त परमाणुओं में से वे कर्म परमाणु, जिन्होंने आत्मा के अनन्त दर्शन स्वरूप को ढक दिया है, जिसके कारण, आत्मा के समस्त पदार्थों के अवलोकन की शक्ति, आवृत होकर, साधारण अवलोकन मात्र, प्राणियों में पायी जाती है, दर्शन गुण के सीमित होने से, ज्ञान प्राप्ति का द्वार वन्द हो जाता है, इस कर्म की तुलना शासक के उस ड्योढ़ीवान के साथ की जा सकती है, जो शासक के साथ किसी व्यक्ति के मिलने में अड़चन डालता है। यदि ड्योढ़ीवान उस व्यक्ति को अन्दर जाने की आज्ञा न दे, तो वह शासक से नहीं मिल सकता है। यही दशा दर्शनावरणीय (दर्शन पर आवरण करने वाले)कर्म की है।

---

[1] ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म, अन्तराय कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म, आयु कर्म, वेदनीय कर्म, घाति व अघाति कर्म शब्दों का प्रयोग, जैन दर्शन ने उपरोक्त अर्थ में किया है और इनका आशय भी स्पष्ट है, इसलिये इन शब्दों का प्रयोग, यहां पर भी किया गया है।

(३) मोहनीय[1] कर्म—कर्म शक्तियुक्त परमाणुओं में से वे परमाणु, जिन्होंने आत्मा के शान्ति सुख स्वभाव को विकृत करके, मोह उत्पन्न कर दिया है, जिसके कारण, यह शान्ति, आनन्दमय स्वरूप विकृत होकर, काम-क्रोध, रागद्वेष, प्रेम, परोपकार आदि भिन्न भिन्न भावनाओं के रूप में प्रदर्शित होता है। इस मोहनीय कर्म की दशा मदिरा के समान है। जैसे मदिरा बुद्धिमान व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट करके मूढ़ एवं वेसुध बना देती है, जिससे उसकी विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है, माता वहिन व पत्नी में अन्तर नहीं समझता है, उसी प्रकार यह कर्म आत्मा के सुख शान्तिमय स्वभाव को विकृत करके, उसमें मोह उत्पन्न कर देता है, जिसके कारण आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है, अपने स्वरूप से सर्वथा भिन्न (अपने) शरीर एवं अन्य स्त्री, पुत्र आदि चेतन, गृह, भूमि, धन, धान्य आदि अचेतन पदार्थों में ममत्व बुद्धि धारण करता है। उनको अपना समझता है एवं पोषित करता है। संसार के संघर्ष में पड़ता है, जिसके कारण काम-क्रोध आदि अनेक प्रकार की भावनायें उसमें उत्पन्न होती हैं।

(४) अंतराय[1] कर्म—कर्म शक्ति युक्त परमाणुओं में से वे परमाणु, जो ज्ञान, दर्शन व आनन्द स्वरूप के अतिरिक्त, आत्मा के अन्य प्रकार के सामर्थ्य को प्रगट नहीं होने देते हैं। उसकी वीर्य शक्ति के प्रगट होने में अन्तराय का कार्य करते हैं। इस कर्म के कारण, आत्मा का सामर्थ्य केवल कुछ अंशों में प्रतिभासित होता है। मनुष्य में संकल्प शक्ति, साहस, वीरता आदि की अधिकता या न्यूनता इस कर्म पर निर्भर है।

उपरोक्त ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय चार कर्मोको **घातिकर्म** के नाम से पुकार सकते हैं, क्योंकि इनसे आत्मा का वास्तविक स्वरूप घात होता है, जिसके कारण आत्मा का अनन्त ज्ञान,

---

[1] मोहनीय, अन्तराय शब्दों के सम्बन्ध में पिछले पृष्ठ के फुटनोट को देखो—

दर्शन व वीर्य आच्छादित होकर कुछ अंशों में प्रगट होता है, एवं आत्मा का शान्त आनन्द स्वरूप विकृत होकर, काम, क्रोध आदि अनेक भावनाओं के रूप में प्रदर्शित होता है।

(५) नामकर्म[1]—कर्मशक्तियुक्त परमाणुओं में से वे परमाणु, जिनका कार्य, जीव को एक योनि से दूसरी योनि में ले जाना है। जिस कर्मशक्ति से युक्त हुआ आत्मा, शारीरिक मृत्यु होने पर, वर्तमान शरीर को छोड़कर, दूसरी योनि में, समस्त संचित कर्म परमाणुओं के उपयुक्त उत्पत्ति स्थान की ओर आकर्षित होकर, इस भांति चला जाता है, जैसे चुम्बक की आकर्षण शक्ति द्वारा खिचकर, लोहा उसकी ओर चला जाता है। जिस कर्मशक्ति से युक्त हुआ आत्मा गर्भ में पहुंच कर, कलल, भ्रूण, अवस्थाओं में होता हुआ शिशु के रूप में जन्म लेता है, फिर विकास के रूप में वृद्धि करता-करता बालक, युवा अवस्थाओं में होता हुआ, वृद्ध दशा को प्राप्त होता है। सारांश में वे कर्म परमाणु, जिनसे जीव की योनि एवं उस योनि सम्बन्धी शरीर की अनेक प्रकार की बनावट निश्चित होती है। इस कर्म की दशा उस चित्रकार के सदृश है, जो मनुष्य, पशु आदि प्राणियों के नाना प्रकार के चित्र खींचता है, जिनको अनेक नामों से पुकारा जाता है।

(६) गोत्रकर्म[1]—कर्मशक्ति परमाणुओं में से वे परमाणु, जो जीव की—जब वह किसी योनि में जन्म लेता है—स्थिति को निर्धारित करता है, जिसके कारण वह जीव ऐसे देश, जाति, परिवार, गोत्र आदि में उत्पन्न होता है कि जहां उत्पन्न होने के कारण ही, वह उच्च या नीच समझा जाता है या वे कर्म परमाणु—जो जीवन में उसके आचरण अनुसार—ऊँच, नीच का बोध कराते हैं।

---

[1] नाम, गोत्र, आयु, वेदनीय कर्म के सम्बन्ध में फुटनोट पृष्ठ ११० पर देखो।

(७) आयुकर्म[१]—वे कर्म परमाणु, जो जीव की आगामी योनि के लिये, आयु निश्चित करते हैं, जिनके कारण प्राणी, उस योनि में प्राप्त हुए शरीर में, क़ैद रहता है। आयुकर्म के समाप्त होने पर, प्राणी उस विशेष योनि को त्याग कर, उपरोक्त नाम कर्म के अनुसार, आगामी योनि में, चला जाता है एवं जाकर जन्म धारण कर लेता है।

(८) वेदनीयकर्म[१]—वे कर्म परमाणु, जिनके कारण, मनुष्य, पशु आदि प्राणियों को, भोजन, वस्त्र आदि आवश्यक सामग्री प्राप्त होती है, जिसके कारण मनुष्य को विपुल धन सम्पत्ति, नाना प्रकार के वाहन आदि ऐश्वर्य अथवा भोग विलास के सामान का संयोग होता है या उसको धन-हीन, दीन अवस्था प्राप्त होती है, जिसमें रहने से, वह व्यक्ति सुख या दुख की वेदना का अनुभव करता है या जिसके कारण उसका शरीर स्वस्थ या रोग व्याधि युक्त होता है, जिससे उस मनुष्य को सुख या दुख का अनुभव होता है।

उपरोक्त नाम, गोत्र, आयु वेदनीय चार कर्मों को अघाति[२] कर्म के नाम से पुकार सकते हैं, क्योंकि इनसे आत्मा के वास्तविक स्वरूप का आघात, आवरण या विकार तो उत्पन्न नहीं होता; परन्तु इनसे प्राणियों की भिन्न-भिन्न योनि, भिन्न-भिन्न अवस्थायें एवं परिस्थिति निर्धारित होती है, जिस परिस्थिति में जीव के रहने के कारण ही उपरोक्त घातिकर्म (ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अन्तराय) अपना कार्य कर सकते हैं।

---

[१] आयु, वेदनीय कर्म के सम्बन्ध में फुटनोट पृष्ठ ११० पर देखो।

[२] अघाति कर्म—अघाति दो शब्द अ+घाति से बना है "अ" का अर्थ संस्कृत भाषा में नहीं या किंचित होता है, यहां पर 'अ' से तात्पर्य किंचित का है। अतः अघाति कर्म का अर्थ किंचित घात करने वाला कर्म होता है।

उपरोक्त कर्म परमाणुओं के आठ भेदों के वर्णन से स्पष्ट है कि ज्ञाना-वरणीय, दर्शनावरणीय व अन्तराय कर्मों ने आत्मा के ज्ञान, दर्शन एवं वीर्य स्वाभाविक गुणों को आच्छादित कर रखा है, जिनके कारण मनुष्य में किंचित ज्ञान, दर्शन व सामर्थ्य पाया जाता है। मोहनीय कर्म ने आत्मा के शान्त-आनन्द स्वरूपको विकृत कर दिया है, जो विकृत होकर काम, क्रोध आदि भावनाओं के रूप में दिखलाई देता है। नाम कर्म से जीव एक योनि से दूसरी योनि में जाता है। एवं उसके शरीर आदि का निर्माण होता है। गोत्र कर्म से ऐसी परिस्थिति में उत्पन्न होता है या ऐसा आचरण करता है, जिसके कारण उच्च या नीच समझा जाता है। आयुकर्म से आयु नियत होती है। वेदनीय कर्म से सुख या दुख की सामग्री का संयोग स्वस्थ या अस्वस्थ शरीर प्राप्त होता है।

इन बंधे हुए कर्मों की दशा मदिरा के तुल्य है। जब कोई व्यक्ति मद्यपान करता है, तो कुछ समय पश्चात्, उसका नशा चढ़ जाता है, जिससे उसकी बुद्धि, भ्रष्ट होकर, भ्रम रूप हो जाती है और वह व्यक्ति अनेक प्रकार के रौद्र एवं अनुचित कार्य करता है। ठीक यही दशा इन बंधे हुए कर्मों की है। बन्धन के कुछ समय पश्चात्, ये कर्म कार्यान्वित होते हैं, अर्थात् इनका फल मिलने लगता है। उस समय इनका प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है। उसकी स्वच्छ बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, काम, क्रोध आदि रूप उसकी भावना हो जाती है, जिसके वशीभूत हुआ, वह अनेक प्रकार के रौद्र एवं अनुचित कार्य करता है, बाह्य पदार्थों में ममत्व धारण करके, किसी से प्रेम और किसी से द्वेष करता है आदि-आदि।

ये कर्म किसी व्यक्ति को रुपया पैसा कोठारी के समान तो नहीं देते हैं, वरन् उसके प्राप्त या अप्राप्त होने में कारण होते हैं। प्रायः देखा जाता है कि एक ही व्यवसाय को कितने ही मनुष्य करते हैं। कुछ मनुष्य तो उसमें सफल होकर धन संचय कर लेते हैं, किन्तु कुछ व्यक्ति, जो काफ़ी बुद्धिमान हैं और जो काफ़ी परिश्रम से कार्य करते हैं, उसी व्यवसाय में

नष्ट व दिवाला निकालते हुए देखे जाते हैं। लाभ व हानि भी सब व्यापारियों को एकसी नहीं होती है। यह अन्तर इन्हीं कर्मों के कारण होता है।

यदि किसी व्यक्ति को, उसके कर्मानुसार, लाभ होना है, तो व्यापार में उसको लाभ हो जाता है और यदि हानि होनी है, तो हानि हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार का व्यवसाय नहीं कर रहा है और उसके तीव्र पुण्य कर्म का उदय आया है, जिसके फलस्वरूप धन सम्पत्ति प्राप्त होनी चाहिये। ऐसी अवस्था में उसको अकस्मात् वसीयत, लाटरी आदि से धन प्राप्त हो जावेगा अथवा उसकी प्रवृत्ति किसी व्यापार करने की हो जावेगी, जिसमें उसको अतुल धन की प्राप्ति होगी। यदि उसके मन्द पुण्य कर्म का उदय आया है और वह व्यक्ति किसी प्रकार का व्यवसाय भी नहीं कर रहा है, तो यह सम्भव है कि उसको लाभ तनिक भी न हो और उसका वह मन्द पुण्य कर्म, उपयुक्त कारण न मिलने से, बिना फल दिये हुए ही, नष्ट हो जावे। यही दशा अशुभ कर्मो के उदय की है। इस प्रकार मनुष्य के पूर्व कर्मों का फल मिलना, बहुत कुछ उपयुक्त साधनों के मिलने पर ही, निर्भर रहता है।

मान लो कोई जीव, पशु योनि में, शरीर धारण किये हुए है और उसके ज्ञानावरणीय कर्म का मन्द उदय आया है, जिसका प्रभाव यह होना चाहिये कि उसके वास्तविक ज्ञान का--जो ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत था—विकास अधिक हो। परन्तु पशु योनि के कारण, उस जीव की परिस्थिति ऐसी है कि उसके ज्ञान गुण का विकास अधिक नहीं हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में, उस ज्ञानावरणीय कर्म का मन्द उदय, बिना फल दिये हुए ही, नष्ट हो जावेगा। या मान लो उस पशु योनिधारी जीव के ऐसे कर्मों का उदय आया है कि जिनके कारण, उसकी प्रवृत्ति दया, परोपकार आदि शुभ कार्यो की ओर हो। पशु योनि के कारण, परिस्थिति ऐसी है कि वह दया, परोपकार आदि कार्यो में प्रवृत हो नहीं सकता है।

ऐसी अवस्था में, उपरोक्त कर्मों के फल का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और वे कर्म, विना फल दिये हुए ही, नष्ट हो जावेंगे।

उपरोक्त विवेचन से, इस परिणाम पर पहुंचा जाता है कि कर्म परमाणु कार्यान्वित होने पर, अनुकूल परिस्थिति में ही, पूरा फल देते हैं। यदि परिस्थिति विल्कुल विपरीत होती है, तो वे कर्म परमाणु, विना फल दिये हुए ही, नष्ट हो जाते हैं और यदि परिस्थिति कुछ विपरीत और कुछ अनुकूल होती है, तो उन कर्मों का फल भी पूरा नहीं मिलता है, अधूरा ही रहता है। इस प्रकार पूर्व संचित कर्मों का फल मिलना, वाह्य सावन व परिस्थिति पर, कितने ही अंशों में, निर्भर रहता है।

मनुष्य जव मदिरा पीता है, तो उसे नशा हो जाता है। किसी मदिरा का नशा तत्काल ही हो जाता है, किसी का घंटे दो घंटे वाद। किसी मदिरा का नशा तीव्र होता है, किसी का मन्द। किसी का नशा घंटा भर रहता है, किसी का अधिक देर तक। ठीक इसी प्रकार मनुष्य, जव मन, वचन या शरीर द्वारा कार्य करता है, तो उसकी भावना के अनुसार, सूक्ष्म परमाणुओं में कर्मशक्ति उत्पन्न हो जाती है। ये कर्मशक्तियुक्त परमाणु, कुछ समय पश्चात्, कार्य रूप में परिणत होते हैं, अर्थात् इन कर्म परमाणुओं का फल मिलने लगता है। मदिरा के नशे की भांति, कुछ कर्म परमाणुओं का प्रभाव तत्काल होने लगता है, कुछ का कुछ दिन, महीने, वर्ष वाद। मदिरा के नशे की भांति, कुछ कर्मों का प्रभाव तीव्र होता है और कुछ का मन्द। कुछ कर्मों का प्रभाव अधिक समय तक रहता है और कुछ का थोड़े समय तक।

उपरोक्त विवेचन से प्रगट है कि प्राणी के मन, वचन या शरीर द्वारा कार्य करने से, उसकी उस समय की भावना के अनुसार, समीपवर्त्ती सूक्ष्म परमाणुओं में कर्मशक्ति उत्पन्न हो जाती है और इन परमाणुओं का आत्मा के साथ सम्वन्ध हो जाता है। इन कर्म परमाणुओं के कार्य रूप में परिणत होने से, उस व्यक्ति को अपने पूर्वकृत कर्मों का फल मिलने लगता

है, उसकी मनोवृत्ति वदल जाती है, काम, क्रोध आदि रूप अनेक प्रकार की भावना उत्पन्न होती है, जिसके कारण वह व्यक्ति फिर नवीन कार्य करता है। इस नवीन कार्य एवं भावना से, वह फिर नवीन कर्म परमाणुओं से बंधता है। इस प्रकार कार्य और कारण की शृंखला (Chain of cause and effect) अक्षुण्ण चलती रहती है और जीव कर्म-वन्धन से आवद्ध, अनेक योनियों में जन्म लेता हुआ, अनादि काल से इस संसार में भ्रमण करता हुआ चला आता है।

(३) दार्शनिकों के मत

प्राणियों के पूर्वकृत कर्मों के फल मिलने के सम्वन्ध में, उपरोक्त कर्म सिद्धान्त के निश्चय होने पर, यह जानना अनुचित न होगा कि इस सम्वन्ध में प्रचलित धर्मों के दार्शनिकों के क्या मत हैं। इनके विवेचन से, कितना ही प्रकाश, अनुसन्धान द्वारा निश्चित, उपरोक्त कर्म सिद्धान्त की सत्यता पर पड़ेगा।

(क) ईसाई व इस्लाम दर्शनों के मत

ईसाई व इस्लाम के दार्शनिकों की धारणा है कि ईश्वर ने इस जगत का निर्माण किया है; वही समस्त प्राणि समाज की रचना करता है; इस जगत में उत्पन्न होने से पहिले, इन प्राणियों के व्यक्तित्व का कोई पृथक अस्तित्व न था; शारीरिक मृत्यु होने पर मनुष्य न्यायदिवस (Judgment day) की प्रतीक्षा में रहते हैं। न्याय के दिन ईश्वर इन मृत आत्माओं के, मनुष्य जन्म में किये हुए कर्मों का निपटारा करता है। जिन मृत आत्माओं ने, मनुष्य जन्म में, पुण्य कर्म किये हैं, उनको स्वर्ग में भेज देता है, जहां अनन्त काल तक अप्सराओं के साथ भोग विलास करते हुए सुख में मस्त रहते हैं। जिन मृत आत्माओं ने, मनुष्य जन्म में, पाप कर्म किये हैं, उनको सदा के लिये नरक में डाल देता है, जहां वे नाना प्रकार के दुख पाते रहते हैं।

इस धारणा में, अनुसन्धान द्वारा निश्चित उपरोक्त कर्मसिद्धान्त का, न कोई स्थान है और न हो ही सकता है; क्योंकि इन धर्मों ने विद्यमान समस्त प्राणी समाज का रचयिता एक ईश्वर मान लिया है, जो सम्पूर्ण प्राणियों के कार्यों की सूचना रखता है और जो न्याय के दिन मृत आत्माओं को, उनके पुण्य अथवा पाप कर्मों के अनुसार, सदा के लिये स्वर्ग या नरक में भेज देता है।

(ख) भारतीय दार्शनिकों के मत

भारत में जितने भी धर्म प्रचलित हुए हैं, उन सब धर्मों के दार्शनिकों ने यही माना है कि जो जैसा करता है, उसको उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है। यह जीव, अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार, एक योनि से दूसरी योनि को जाता है। इन्हीं के कारण इसको सुख दुख मिलता है। जो कर्म मनुष्य करता है, उसका फल उसको अवश्य मिलता है। आज के कर्म का फल उसको कल भोगना पड़ता है और कल का परसों; इतना ही नहीं, किन्तु जो कर्म इस जन्म में किया जाता है, उसका फल अगले जन्म में भी भोगना पड़ता है। भारतीयों की साधारण धारणा है कि 'जैसी करनी वैसी भरनी'। वैदिक धर्मानुयायी समस्त दर्शनों की (उनकी भी जो ईश्वर को कर्मफलदाता मानते हैं) यही मान्यता है कि प्राणी को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। महाभारत (शान्तिपर्व २४०-७) में कहा है :—

कर्मणा वध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।

अर्थात प्राणी अपने कर्मों के द्वारा बंध जाता है और ज्ञान के द्वारा छूट जाता है, यही बात भगवत्गीता (५-१५) में कही है :—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जंतवः॥

अर्थात—ईश्वर न किसी का पाप लेता है और न पुण्य ही। ज्ञान पर अज्ञान का परदा पड़ा हुआ है, जिसके कारण प्राणीसमाज में मोह उत्पन्न होता है।

(ग) सांख्य व वेदान्त दार्शनिकों के विशेष मत

इनकी धारणा है कि प्रत्येक सांसारिक आत्मा के साथ प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं का बना हुआ एक सूक्ष्म शरीर रहता है, जिसको ये **'लिंग शरीर'** या **'सूक्ष्म शरीर'** कहते हैं। मनुष्य जो कर्म करता है, उसका संस्कार इस सूक्ष्म शरीर में रहता है। जितने कर्म मनुष्य ने पूर्व या इस जन्म में किये हैं और जिनका फल उसने अभी तक नहीं भोगा है, उनके कर्म संस्कार इस सूक्ष्म शरीर में रहते हैं। इन कर्म संस्कारों से युक्त लिंग शरीर ही मनुष्य को **एक योनि से दूसरी योनि में ले जाता है।** माता के गर्भ में, कलल अवस्था से लगाकर वृद्ध अवस्था पर्यन्त, यही 'लिंग शरीर' उस व्यक्ति के शरीर की वृद्धि करता है। उसको अपने पूर्व कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इन दार्शनिकों ने इन बंधे हुए कर्म संस्कारों के तीन भेद किये हैं :—

(१) संचित कर्म—वे समस्त कर्म जो मनुष्य ने पूर्व या इस जन्म में बांधे हैं और जिनका फल अभी तक मिलना प्रारम्भ नहीं हुआ है, इस संचित कर्म को 'अदृश्य कर्म' भी कहा है।

(२) प्रारब्ध कर्म—वे कर्म जिनका फल मिलना प्रारम्भ हो गया है। इसको आरब्ध कर्म भी कहा है।

(३) क्रियमाण कर्म—वह कर्म जो अभी किया जा रहा है, यह केवल वर्तमान काल सूचक है।

श्री बादरायण आचार्य ने कर्मभोग के सम्बन्ध में वेदान्तसूत्र (४-१-१५) में केवल दो ही भेद किये हैं :—

(१) प्रारव्व कर्म—वे कर्म जिनका फल भोगना प्रारम्भ हो गया है।

(२) अनारव्व कर्म—वे कर्म जिनका फल भोगना अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है।

इन दार्शनिकों का मत है कि जिन कर्मों का फल मिलना प्रारम्भ हो जाता है, उन कर्मों का फल उस व्यक्ति को अवश्य भोगना पड़ता है :—

"प्रारव्यकर्मणां भोगादेव क्षयः।"

प्रारव्ध कर्म का फल व्यक्ति को पूर्णतया भोगना पड़ता है, वीच में क्षय नहीं किया जा सकता। जैसे हाथ से छूटा हुआ वाण अन्त तक चला जाता है, न वीच में रुकता है और न लौटकर आता है। परन्तु अनारव्व कर्म की दशा ऐसी नहीं होती, वह ज्ञान के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। विना भोगे ही उसका क्षय किया जा सकता है।

सांख्यदर्शन ने लिंग शरीर को प्रकृति के निम्नलिखित १८ सूक्ष्म-तत्वों का वना हुआ माना है :—महत (वुद्धि), अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और पांच तन्मात्रायें। वेदान्तदर्शन ने लिंग शरीर को उपरोक्त १८ तत्वों के अतिरिक्त उन्नीसवें चित्त (जिसमें अनेक प्रकार की भावनायें रहती हैं) तत्व का भी वना हुआ माना है। ये तत्व सूक्ष्म प्रकृति के वने हुए हैं। इनमें से प्रथम तेरह तत्वों को प्रकृति के गुण भी कह सकते हैं, परन्तु अन्तिम शव्द, रूप, स्पर्श, रस, गन्ध पंच तन्मात्रायें प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं की वनी हुई हैं। इस प्रकार इस लिंग शरीर को, प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं का वना हुआ, माना है, जो सदैव सांसारिक आत्मा के साथ रहता है। जव मनुष्य ज्ञान द्वारा संचित कर्मों का नाश कर देता है, तव यह 'लिंग' या 'सूक्ष्म शरीर' भी आत्मा से पृथक हो जाता है और आत्मा कर्मवन्धन से मुक्त होकर, कैवल्य पद को प्राप्त हो जाता है।

किसी व्यक्ति के, किसी कार्य करने में, उस कार्य के फलस्वरूप जो

कर्म संस्कार उसके लिंग शरीर में पड़ते हैं, अर्थात जो कर्मवन्धन वह व्याक्त करता है, उसके कारण उस व्यक्ति की राग द्वेष रूप प्रवृत्ति होती है। जैसी-जैसी उस व्यक्ति के काम क्रोध आदि भावनायें, कार्य करने के समय होती हैं, वैसा ही वह व्यक्ति कर्मवन्धन करता है। यदि उस व्यक्ति के किसी कार्य करते समय विल्कुल शुद्ध भाव हों, कोई आसक्ति कार्य में न हो, कार्य को पूर्ण निष्काम भाव से करे, तो उस कार्य के फलस्वरूप वह किसी कर्मवन्धन में नहीं फंसता है। मैत्र्युपनिषद (६-३४) में कहा है :—

मन एव मनुष्याणां कारण वन्धमोक्षयो।
वन्धाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्॥

अर्थात मनुष्य के (कर्म से) वन्धन या मोक्ष का कारण मन ही है। मन के विषयासक्त होने से वन्धन और निष्काम, निर्विषय एवं अनासक्ति होने से मोक्ष होता है। भगवतगीता में तो इसी वात का प्रतिपादन किया गया है कि विषयासक्त होने, फल की आशा से कर्म करने अथवा राग द्वेष रूप प्रवृत्ति होने से, मनुष्य कर्मवन्धन करता है। निष्काम कर्म करने से न उसके किसी प्रकार का कर्मवन्धन होता है और न वह किसी पाप का भागी होता है। श्री भगवद्गीता (४-२०, २१, २२) में कहा है :—

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्त सर्व परिग्रहः।
शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥
यदृच्छालाभ सन्तुष्टो द्वंदातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निवद्धयते॥

अर्थात—'कर्मफल' की आसक्ति छोड़कर, जो सदा तृप्त और निराश्रय है (यानी जो पुरुष कर्म को विना फलाशा के सदा तृप्त हुआ करता है)—कहना चाहिये—वह कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता है। फल

की वासना का त्याग करने वाला (निराशीः), चित्त को नियंत्रित रखने वाला, सर्व परिग्रह से मुक्त (यानी आसक्ति से मुक्त) पुरुष, केवल शरीर एवं कर्मेन्द्रियों से कर्म करता हुआ भी, पाप का भागी नहीं होता है। जो यदृच्छा से प्राप्त हो जावे, उसमें सन्तुष्ट, हर्ष, शोक आदि द्वन्दों से मुक्त, अभिमान शून्य, कार्य की सिद्धि अथवा असिद्धि में समता रखने वाला पुरुष, कर्म करता हुआ भी, पाप अथवा पुण्य से बद्ध नहीं होता है।

पूर्व मीमांसा के कुछ भाष्यकार एवं आचार्यों ने कर्मबंधन का कुछ वर्णन किया है। परन्तु योग न्याय व वैशेषिक दर्शनों ने 'कर्मबन्धन' विषय का विवेचन अधिक नहीं किया है। उपरोक्त दर्शनों की, इस विषय में, एक प्रकार से उपेक्षा रही है। केवल इतना कहकर—'मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, उसका फल उसको इस या आगामी जीवन में भोगना पड़ता है—सन्तुष्ट हो गये हैं। उन्होंने यह नहीं बतलाया कि किस प्रकार मनुष्य को अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगना पड़ता है।

बौद्ध दार्शनिकों का भी यही मत है कि जो कर्म मनुष्य करता है, उस कर्म के अनुसार संस्कार पड़ जाते हैं और मनुष्य को अपने पूर्वकृत कर्मों का फल, इन संस्कारों द्वारा, मिल जाता है। इसका विशेष वर्णन नहीं किया है।

(घ) जैन दार्शनिकों का विशेष मत

जैन दार्शनिकों का भी यही मत है कि जो जैसा कर्म करता है उसको वैसा ही फल मिलता है। जैनाचार्य श्री अमितगति ने कहा है :—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयम् लभते शुभाशुभं।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटम्,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

अर्थात्—जो कर्म पूर्वकाल में मनुष्य द्वारा किया गया है, उसका शुभ अथवा अशुभ फल उसको मिलता है। यदि यह माना जावे कि यह फल किसी अन्य व्यक्ति का दिया हुआ है, तो अपने किये हुए कर्म निरर्थक ही ठहरेंगे।

जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्मफल देने वाला कोई अन्य विशेष चेतन व्यक्ति या ईश्वर नहीं हैं। कर्मफल स्वयं मनुष्य को मिलता रहता है, मन, वचन या शरीर द्वारा कार्य करने के समय मनुष्य की राग, द्वेष आदि जैसी परिणति या भावना होती है, उसी भावना के अनुसार, मनुष्य को उसके कार्य का फल मिलता है। यदि किसी समय, मनुष्य के भाव सर्वथा शुद्ध हों, उसमें राग द्वेषादि रूप किसी प्रकार की भावना विद्यमान न हो, वह निर्ममत्व, निर्लेप, वीतरागी हो, तो उस समय उस व्यक्ति के शारीरिक कार्य करते हुए भी किसी प्रकार का कर्मवन्धन नहीं होता है। मोक्ष शास्त्र (अ० ८-२) में कहा है :—

स कषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स वन्धः।

अर्थात जीव क्रोध, अभिमान आदि कषाय (वासना, भावना आदि) युक्त होने पर, कर्म में परिणत होने के योग्य सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं (सूक्ष्म परमाणु जिनमें कर्मशक्ति ग्रहण करने की योग्यता हो) को ग्रहण करता है। इस ग्रहण करने को ही वन्ध (कर्मवन्धन) कहते हैं। जैन दर्शन, प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा के साथ-साथ, सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का वना हुआ, एक **सूक्ष्म शरीर** मानता है। इस सूक्ष्म शरीर के सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं में, उस व्यक्ति के पूर्वकृत कर्मों के फल देनेवाली शक्ति इस प्रकार भरी होती है, जैसे विद्युत यंत्र (वेटरी Battery) में विद्युत शक्ति। इस सूक्ष्म शरीर को **कार्माण शरीर**[1] के नाम से वोधित किया

---

[1] कार्माण शरीर=(कर्म+अणु)+शरीर अर्थात् कर्मफल देने वाली शक्ति से युक्त सूक्ष्म परमाणुओं का समूह।

है। आत्मा को, शक्ति रूप से, अनन्त ज्ञान, दर्शन, शक्ति एवं आनन्दमय मानता है और कहता है कि आत्मा के शुद्ध ज्ञान आनन्द आदि स्वरूप को कर्मफल देने वाली शक्ति से युक्त सूक्ष्म परमाणुओं के समूह कार्माण शरीर ने आच्छादित व विकृत कर रखा है, जिसके कारण, यह सांसारिक आत्मा अल्पज्ञ, शक्तिहीन एवं राग द्वेष आदि अनेक प्रकार की भावनाओं से युक्त हुआ दिखलाई देता है। आत्मा को इस सूक्ष्म कार्माण शरीर ने बन्धन में कर रखा है, यदि आत्मा सूक्ष्म कार्माण शरीर से बद्ध न होता, तो वह भौतिक शरीर से स्थूल पदार्थ में क़ैद नहीं रह सकता था; भौतिक शरीर की मृत्यु होते ही, वह मुक्त होकर मोक्ष स्थान को पहुंच जाता, एक योनि से दूसरी योनि में कदापि नहीं जाता।

यह कर्मशक्ति सूक्ष्म पुद्‌गल परमाणुओं में किस प्रकार उत्पन्न होती, रहती एवं क्षय होती है, इसका विशद वर्णन, वैज्ञानिक शैली पर, जैन ग्रंथों में दिया हुआ है। यह वर्णन अनुसन्धान द्वारा निश्चित उपरोक्त कर्म-सिद्धान्त से मिलता जुलता है। पाठकों की जानकारी के लिये, उसका कुछ उल्लेख किया जाता है।

मनुष्य मन, वचन या काय द्वारा जब कोई कार्य करता है, तो उसके समीपवर्त्ती वातावरण में, क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, उसके चारों ओर विद्यमान विशेष प्रकार के सूक्ष्म परमाणु—जिनको कार्माण वर्गणा[1] कहते हैं—आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं। उस समय, उस व्यक्ति की राग द्वेष रूप जैसी परिणति या भावना होती है, उसी भावना के अनु-सार, इस आकर्षित 'कार्माण वर्गणा' में, कर्मफल देने वाली, एक विशेष प्रकार की शक्ति (Energy) ऐसे उत्पन्न हो जाती है, जैसे दो पदार्थों

---

[1] कार्माण वर्गणा = कार्माण (कर्म + अणु) + वर्गणा (समूह) अर्थात् सूक्ष्म पुद्‌गल परमाणुओं का वह समूह जिसमें कर्मशक्ति ग्रहण करने की योग्यता है।

के संघर्षण से विद्युतशक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस कर्मफल देने वाली शक्ति से युक्त कार्माण वर्गणा का, आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध (अर्थात् एक ही क्षेत्र में स्थित आत्मा व कार्माण शरीर का आकाश के एक ही क्षेत्र में व्याप्ति सम्बन्ध) हो जाता है। जैन दर्शन ने 'कर्मशक्ति-युक्त कार्माण वर्गणा' को 'कर्म' के नाम से बोधित किया है, क्योंकि यह (कर्म) उस व्यक्ति के पूर्वकृत कार्य (कर्म) का फल है। कार्माण वर्गणा (सूक्ष्म परमाणुओं) के आत्मा की ओर आकर्षित होने को 'आस्रव' और आत्मा के साथ सम्बन्ध होने को 'बन्ध' जैन ग्रंथों में कहा है।

मनुष्य प्रतिक्षण मन, वचन या शरीर द्वारा कुछ न कुछ कार्य करता रहता है, इसलिये प्रति समय, उसकी तात्कालिक भावनाओं के अनुसार, उसके कर्म बन्धते रहते हैं। उन समस्त कर्मों (कर्मशक्ति युक्त कार्माण-वर्गणा) के समूह को—जो उसने वर्तमान या पूर्व जन्म में बांधे हैं और जिनकी, कर्म फल देकर, अभी तक व्युच्छिति नहीं हुई है—कार्माण शरीर कहते हैं। यह कार्माण शरीर पूर्ण आत्मा में व्याप्त रहता एवं उसको आच्छादित रखता है।

इन कर्मों की दशा मदिरा के तुल्य है, जैसे किसी मदिरा का नशा जल्दी चढ़ता है, किसी का देर में, किसी का थोड़ी देर तक रहता है, किसी का अधिक समय तक। ठीक यह दशा कर्मों की है, जब वे, कर्म बन्धन से कुछ समय पश्चात्, कार्यान्वित होते हैं, तो उनका प्रभाव मनुष्य पर पड़ने लगता है। जैसे मदिरा के नशे से मनुष्य की स्वच्छ बुद्धि नष्ट होकर भ्रम रूप हो जाती है और वह नशे में अनेक प्रकार के कार्य करता है, उसी प्रकार, कर्मों के कार्य रूप में परिणत होने से, मनुष्य की मनोवृत्ति बदल जाती है, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावनाएं उत्पन्न होती हैं और वह अनेक प्रकार के कार्य करता है। बाह्य पदार्थों के संयोग से, कर्मों का फल भिन्न भिन्न प्रकार का मिलने लगता है। ज्ञान के विकास में न्यूनता या अधिकता हो जाती है। कुछ समय तक फल देकर, ये कर्म कर्मशक्ति-

विहीन हो जाते हैं। उस समय उस कार्माण वर्गणा का—जिसमें उन कर्मों की शक्ति पहिले से भरी हुई थी और अब जिनकी व्युच्छित्ति हो गई है—सम्बन्ध आत्मा से तथा शेष अन्य कर्मों के समूह कार्माण शरीर से छूट जाता है। इस सम्बन्ध के छूटने को 'निर्जरा' कहते हैं। एक ही साथ एक ही समय कितने ही कर्मों का फल मिलता रहता है। ऐसी दशा में, जो कर्म फल मिलता है, वह उस समय उदय में आये हुए, समस्त कर्मों की कर्म शक्तियों की जोड़ बाकी का प्रतिफल होता है। शरीर के हलन चलन रोकने, वचन न बोलने एवं मन को शुद्ध रखने से नवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है। नवीन कर्मों के आगमन निरोध को **सम्वर** कहते हैं।

मनुष्य अपने भावों को शुद्ध रखने, सांसारिक बाह्य वस्तुओं से मोह ममता त्यागने, क्रोध मान आदि कषाय (अशुभ भावना) के छोड़ने एवं राग रूप शुभ भावनाओं से भी दूर रहने पर, नवीन कर्म बन्धन के चक्र से बच जाता है और पूर्व संचित कर्मों को—जो अभी तक उसकी आत्मा से सम्बन्धित हैं—तपस्या द्वारा शीघ्रता से निर्जरा (नष्ट) करके मुक्त हो जाता है। बन्धन से मुक्त होने पर, आत्मा का शुद्ध चेतन-आनन्द स्वरूप प्रकट हो जाता है एवं वह सच्चिदानन्द अवस्था को प्राप्त हो जाता है। कर्म बन्धन से मुक्त अवस्था को **मोक्ष** कहते हैं।

जैन दर्शन ने सात तत्व माने हैं। जैन समाज में अत्यन्त प्रसिद्ध एवं सर्व मान्य मोक्ष शास्त्र में कहा है:—

'जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षस्तत्वं।'

अर्थात् जीव, अजीव (जीव के अतिरिक्त पुद्गल आदि अन्य द्रव्य), आस्रव (उपरोक्त कर्मों का आगमन), बन्ध (आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध), सम्वर (नवीन कर्मों के आगमन का निरोध), निर्जरा (कर्म का फल देकर अथवा बिना फल दिये नष्ट हो जाना) व मोक्ष (आत्मा का समस्त कर्म बंधन से मुक्त हो जाना) सात तत्व हैं। उपरोक्त सात

तत्वों के ठीक ठीक समझने एवं उन पर श्रद्धान करने के लिये जैन ग्रंथों में वड़ा ज़ोर दिया है।

जिस प्रकार भोजन, शरीर के भीतर प्रवेश करने पर, रक्त मांस आदि सप्त धातु व मल मूत्र में विभक्त हो जाता है, उसी प्रकार कर्मशक्ति युक्त कार्माण वर्गणा (अर्थात् कर्म) भी निम्न लिखित आठ भेदों में विभक्त हो जाते हैं:—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म, (२) दर्शनावरणीय कर्म, (३) मोहनीय-कर्म, (४) अंतरायकर्म, (५) नाम कर्म, (६) गोत्र कर्म, (७) आयु कर्म व (८) वेदनीय कर्म।

इनके नाम व कार्य वही हैं, जो अनुसन्धान द्वारा निश्चित किये हुए, उपरोक्त कर्म सिद्धान्त में, कर्म के आठ भेदों के हैं। गोमट्टसार आदि ग्रंथों में इन आठ कर्मों का विवरण विस्तार पूर्वक दिया हुआ है। इनको १४८ उत्तर भेदों (उत्तर प्रकृति या कर्म) में विभक्त किया है[1] जो उप-

---

[1] १—ज्ञानावरणीय कर्म के ५ भेद हैं:—

(१) मतिज्ञानावरणीय कर्म—मतिज्ञान (वस्तु का साधारण ज्ञान) को ढकने वाला कर्म।

(२) श्रुतज्ञानावरणीय कर्म—श्रुतज्ञान (वस्तु के साधारण ज्ञान होने के पश्चात् वुद्धि व विचार द्वारा विशेष बातें निश्चित करना, जैसे क्या यह वस्तु लाभदायक है या हानिकारक) को आच्छादित करने वाला कर्म।

(३) अवधिज्ञानावरणीय कर्म—अवधिज्ञान (सीमित दिव्य ज्ञान, जिसके द्वारा मनुष्य, मन व इन्द्रियों की सहायता के बिना, कुछ क्षेत्र व काल सम्बन्धी वस्तु व घटनाओं को जान लेता है) को आच्छादित करने वाला कर्म।

(४) मनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्म—मनःपर्ययज्ञान (सीमित दिव्य-

रोक्त गोमट्टसार एवं अन्य ग्रंथों से जाना जा सकता है। इसके अति-रिक्त भिन्न भिन्न कर्मों का बन्धन, उदय (फल देना), व्युच्छित्ति (नष्ट

ज्ञान जिसके द्वारा तपस्वी मनुष्य, विना मन व इन्द्रियों की सहायता के, कुछ क्षेत्र व काल सम्बन्धी अन्य मनुष्यों के मन स्थित विचारों को जान लेता है) को आच्छादित करने वाला कर्म।

(५) केवलज्ञानावरणीय कर्म—केवलज्ञान (पूर्ण दिव्यज्ञान जिसके द्वारा महान आत्मायें, विना किसी इन्द्रिय व मन की सहायता के, सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत जानते हैं) को आच्छादित करने वाला कर्म।

२—दर्शनावरणीय कर्म के निम्नलिखित ९ भेद हैं:—

(१) चक्षुदर्शनावरणीय कर्म—चक्षुदर्शन (नेत्र द्वारा सामान्य अवलोकन) को आच्छादित करने वाला कर्म, जिससे मनुष्य अन्धा, काना या न्यून दृष्टि हो।

(२) अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म—अचक्षुदर्शन (नेत्रों के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों के द्वारा सामान्य ज्ञान) को आच्छादित करने वाला कर्म, जिससे मनुष्य वहिरा आदि होता है।

(३) अवधिदर्शनावरणीय कर्म—अवधिदर्शन (अवधिज्ञान से पूर्व सामान्य अवलोकन) को आच्छादित करने वाला कर्म।

(४) केवलदर्शनावरणीय कर्म—केवलदर्शन (केवलज्ञान से पूर्व सामान्य अवलोकन) को आच्छादित करने वाला कर्म।

(५) निद्रा कर्म—थकावट दूर करने के लिये साधारण निद्रा उत्पन्न करने वाला कर्म।

(६) निद्रानिद्रा कर्म—अधिक निद्रा (जिसके कारण मनुष्य नेत्रों को उघाड़ न सके) उत्पन्न करने वाला कर्म।

या पृथक् होना), सत्ता (आत्मा के साथ रहना) आदि का वर्णन भी विशद रूप से दिया है, जिनके ध्यान पूर्वक अध्ययन व विचारने से मनुष्य

---

(७) प्रचला कर्म--जिसके होने पर, शोक आदि के कारण विकार उत्पन्न होकर शरीर का संज्ञाहीन होना, जिससे मनुष्य नेत्र को कुछ खोले ही सोता रहता है।

(८) प्रचलाप्रचला कर्म--जिसके कारण निद्रा में मुंह से लार जाती है एवं शरीर के अंग चलते रहते हैं।

(९) स्त्यानगृद्धि कर्म—जिस कर्म के कारण, निद्रा आने पर मनुष्य बीच में ही उठकर जागृत मनुष्य की भांति अनेक रौद्र कर्म करे, परन्तु निद्रा के छूटने पर उसको यह ज्ञान न हो कि मैंने क्या किया है।

३–मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं :--दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय कर्म। दर्शन मोहनीय कर्म—आत्मा के वास्तविक स्वरूप के श्रद्धान में वाधा डालता है। इसके ३ भेद होते हैं :—

(१) मिथ्यात्व प्रकृति—वे कर्म, जिसके उदय से, मनुष्य न उपरोक्त ७ तत्वों को समझ कर श्रद्धान कर सके, न उसका मन हिता-हित की परीक्षा में लगे। यह कर्म सम्यक्दर्शन का घातक है।

(२) सम्यक्त्व प्रकृति--जिसके उदय से सम्यक् दर्शन (सात तत्वों का श्रद्धान, आत्मरुचि) का तो नाश न हो परन्तु उसमें दोष उत्पन्न होते हों।

(३) सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति--जिसके उदय से तत्वों के श्रद्धान व अश्रद्धान दोनों प्रकार के मिश्रित भाव हों।

चारित्र मोहनीय कर्म—शुद्ध चारित्र के पालने में वाधा डालता है। इसके २५ उत्तर भेद होते हैं। क्रोध, मान (गर्व), माया (कपट) व लोभ चार कषाय (वासना) हैं। तीव्रता, मन्दता

जीवन की अनेक समस्याओं पर बड़ा प्रकाश पड़ता है और कितने ही अंशो में कितने ही प्रश्नों का संतोष प्रद उत्तर मिल जाता है।

की अपेक्षा इनमें से प्रत्येक के निम्नलिखित चार-चार उत्तर भेद होते हैं :—

(१) अनन्तानुबन्धी कषाय—क्रोधादि उपरोक्त चार कषायों में से प्रत्येक का तीव्रतम भाव, जो पत्थर में लकीर की भांति दीर्घ काल तक रहता है। इन तीव्र भावनाओं के होते हुए सम्यक् दर्शन (आत्म दर्शन, आत्म रुचि आदि) नहीं होने पाता है। ये मिथ्यात्व के साथी हैं।

(२) अप्रत्याख्यान कषाय—क्रोधादि उपरोक्त चार कषायों में से प्रत्येक का तीव्र भाव, जो मिट्टी में लकीर की भांति कुछ काल तक रहता है। यह [(अ=किंचित)+प्रत्याख्यान (त्याग)] थोड़े से त्याग अर्थात् गृहस्थ के अणुव्रत में भी बाधा डालता है।

(३) प्रत्याख्यान कषाय—क्रोधादि उपरोक्त चार कषायों में से प्रत्येक कषाय का वह मन्द भाव, जो बालू में लकीर की भांति अल्प काल तक रहता है। ये कषाय, गृहस्थ को अणुव्रत पालने में, बाधा नहीं डालते, परन्तु ये उसको साधु के महाव्रत पालने से रोकते हैं।

(४) संज्वलन कषाय—क्रोधादि उपरोक्त चार कषायों में से प्रत्येक का वह अत्यन्त मंद भाव, जो जल में लकीर की भांति, तत्काल ही, नष्ट हो जाता है। ये कषाय पूर्ण त्याग को भी नहीं रोकते हैं, केवल उनके कारण, कुछ-कुछ दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक क्रोध, मान, माया व लोभ के उप-

जैन ग्रंथों में इस कर्म वन्धन का, एक अन्य दृष्टि से, निम्नलिखित चार भागों में, विभाजन किया गया है :—

रोक्त चार भेद होने से १६ उत्तर भेद (प्रकृति) होते हैं। शेष ६ भेद निम्नलिखित हैं :—

(१) रति (रागरूप भावना), (२) अरति (द्वेषरूप भावना), (३) भय, (४) जुगुप्सा (ग्लानि की भावना) (५) हास्य (६) शोक, (७) पुरुष वेद (स्त्री के साथ रमने की इच्छा होना) (८) स्त्रीवेद (पुरुष के साथ रमने की इच्छा होना) (६) नपुंसक वेद (स्त्री व पुरुष दोनों के साथ रमने की इच्छा होना)।

इस प्रकार दर्शन मोहनीय के तीन भेद व चारित्र मोहनीय के २५ भेद मिलाकर, कुल २८ उत्तर भेद, मोहनीय कर्म के हुए।

१—अन्तराय कर्म के निम्नलिखित पांच भेद होते हैं :—

(१) दानान्तराय कर्म—अन्तराय कर्म की वह उत्तर प्रकृति (भेद), जो मनुष्य के दान देने में इस प्रकार बाधा डाले, जिस प्रकार मंत्री राजा के दान देने में अड़चन डाल देता है।

(२) लाभान्तराय कर्म—अन्तराय कर्म की वह उत्तर प्रकृति, जो मनुष्य के लाभ होने में विघ्न डाले।

(३) भोगान्तराय कर्म—
(४) उपभोगान्तराय कर्म—
} अन्तराय कर्म की वे उत्तर प्रकृतियां जिनके उदय होने से मनुष्य भोगने एवं उपभोगने (जो वस्तु बार-बार भोगी जा सके जैसे वस्त्र आदि) में समर्थ होता हुआ भी भोग या उपभोग न कर सके।

(१) प्रदेश बन्ध—किसी कर्म बन्धन के समय, कितनी कार्माण वर्गणा (सूक्ष्मपरमाणुओं) का कर्मशक्ति युक्त होकर, आत्मा के साथ

---

(५) वीर्यान्तराय कर्म—जिस उत्तर प्रकृति के उदय होने से, सामर्थ्य प्रकट न हो सके।

५—नाम कर्म के निम्नलिखित मुख्य ४२ भेद तथा इन भेदों के उत्तर भेद करने से ९३ होते हैं :—

(१) गति नाम कर्म—वह कर्म जिसके कारण मनुष्य, तिर्यञ्च (पशु, पक्षी, जलचर, कीट आदि), देव व नरक चार गतियां मिलती हैं।

(२) जाति कर्म—जिसके कारण जीव को ज्ञानेन्द्रियां प्राप्त होती हैं। इसके पांच भेद हैं :—

(१) एकेन्द्रिय जाति—जिसके केवल स्पर्श इन्द्रिय हो जैसे वृक्ष, लता।

(२) द्वीन्द्रिय जाति—जिसके केवल स्पर्श व मुख दो इन्द्रियां हों, जैसे कृमि, लट।

(३) त्रीन्द्रिय जाति—जिसके केवल स्पर्श, मुख व नासिका तीन इन्द्रियां हों, जैसे चींटी।

(४) चतुरिन्द्रिय जाति—जिसके केवल स्पर्श, मुख, नासिका व नेत्र चार इन्द्रियां हों, जैसे मक्खी, भ्रमर।

(५) पंचेन्द्रिय जाति—जिसके उपरोक्त ४ इन्द्रियां व कर्ण पांचवीं इन्द्रिय भी हों, जैसे मनुष्य, पशु आदि।

(३) शरीर नाम कर्म—जिससे शरीर की रचना हो। शरीर निम्नलिखित पांच प्रकार के होते हैं :—

(१) औदारिक शरीर नाम कर्म—जिससे मनुष्य, पशु,

सम्वन्ध हुआ है, अर्थात् कितने सूक्ष्म परमाणु, कर्मशक्ति से युक्त होकर, कर्म परमाणुओं में परिवर्त्तित एवं आत्मा से सम्वन्धित हुए हैं।

पक्षी, कीट, वृक्ष आदि का औदारिक (उदर रखने वाला) शरीर वनता है।

(२) वैक्रियक शरीर नाम कर्म—वह कर्म जिससे वैक्रियक शरीर (सूक्ष्म परमाणुओं का वह शरीर जो इन्द्रियों के अगोचर हो और दीवाल आदि स्थूल पदार्थो में से निकल जाये) मिलता है। यह शरीर देव योनि के स्वर्गवासी देव, भूत, प्रेत आदि नीच प्रकार के देव एवं नारकियों के होता है। इस शरीर में विक्रिया (परिवर्तन) होती रहती है।

(३) आहारक शरीर नाम कर्म—वह कर्म प्रकृति जिसके कारण तपस्वी ऋद्धिधारी मुनि के ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जावे कि किसी सन्देह के उत्पन्न होने पर, उस सन्देह को दूर करने के लिये, उनकी आत्मा के प्रदेश वढ़कर एक पुतले के रूप में सर्वज्ञ अरहंत के पास तक चले जावें और सन्देह को मिटाकर वापिस आ जावें। इस पुतले को आहारक शरीर कहते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं का वना होता है।

(४) कार्माण शरीर नाम कर्म—उपरोक्त कर्म परमाणुओं का समूह, जो आत्मा के साथ सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।

(५) तैजस शरीर नाम कर्म—वह कर्म प्रकृति जिसके कारण, प्रत्येक प्राणी के एक और सूक्ष्म परमाणुओं का शरीर होता है, जिससे उसके भौतिक शरीर में तेज प्रतीत होता है।

(२) प्रकृति वन्ध—एक ही समय में बंधे हुए कर्म परमाणुओं में से, कितने कितने कर्म परमाणु ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों में से प्रत्येक कर्म के हैं।

---

(४) अंगोपांग नाम कर्म--जिससे मस्तक, पीठ, वाहु आदि अंग, ललाट आदि उपांग का भेद प्रकट हो यह (औदारिक, वैक्रियक, आहारक शरीरांगोपांग नाम कर्म) तीन प्रकार का होता है।

(५) निर्माण नाम कर्म—जिससे शरीर का निर्माण हो, यह दो प्रकार का होता है :—

(१) स्थान निर्माण—जिससे ठीक-ठीक स्थान पर नासिका, कर्ण आदि अंग वनें।

(२) प्रमाण निर्माण—जिससे भिन्न-भिन्न अंगों की लम्वाई, चौड़ाई ठीक हो।

(६) वन्धन नाम कर्म—जिसके कारण शरीर के पुद्गल स्कन्ध मिलते हैं। उपरोक्त औदारिक आदि पंच शरीर सम्वन्वी वन्धन भी (औदारिक शरीर वन्धन नाम कर्म आदि) पांच प्रकार का होता है।

(७) संघात नाम कर्म—जिसके कारण शरीर के पुद्गल स्कन्ध छिद्ररहित परस्पर मिलें। उपरोक्त पांच प्रकार के शरीरों से सम्वन्धित संघात भी पांच प्रकार का होता है।

(८) संस्थान नाम कर्म--जिसके कारण शरीर सुडौल या वेडौल बनता है, इसके निम्नलिखित ६ भेद हैं :—

(१) समचतुरस्र संस्थान नाम कर्म—जिसके कारण शरीर की आकृति ऊपर नीचे सुडौल हो।

(२) न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नाम कर्म--जिसके कारण,

(३) स्थिति बन्ध—एक ही समय में जो कर्म बन्धे हैं, वे कुछ समय पश्चात् कार्य रूप में परिणत होंगे, उस समय उन कर्मों का फल उस व्यक्ति

वटवृक्ष के समान नीचे का भाग पतला और ऊपर का स्थूल हो।

(३) स्वातिसंस्थान नाम कर्म—जिसके उदय से नीचे का भाग स्थूल और ऊपर का पतला हो।

(४) कुब्जकसंस्थान नाम कर्म—जिसके उदय से शरीर कुबड़ा हो।

(५) वामनसंस्थान नाम कर्म—जिसके उदय से शरीर बहुत छोटा हो।

(६) हुंडकसंस्थान नाम कर्म—जिसके उदय से शरीर बेडौल हो या अंगों में कमी या अधिकता हो।

(९) संहनन नाम कर्म—जिसके कारण शरीर की अस्थि, पंजरादि में विशेषता हो, जिससे शरीर दृढ़ या हीन हो। इसके ६ भेद हैं।

(१०) स्पर्श नाम कर्म—जिसके कारण कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रुक्ष, शीत व उष्ण आठ प्रकार के स्पर्श गुणों में से एक या अधिक स्पर्श गुण शरीर में हों।

(११) रस नाम कर्म—जिसके कारण (तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल व मधुर) पांच प्रकार के रस गुण शरीर में हों।

(१२) गन्ध नाम कर्म—जिसके कारण सुगन्ध या दुर्गन्ध शरीर में हो।

(१३) वर्ण नाम कर्म—जिसके कारण शरीर से (शुक्ल, कृष्ण, नील, रक्त व पीत) पाँच प्रकार के रंगों में से एक या अधिक रंग हो।

(१४) आनुपूर्व्य नाम कर्म—वह कर्म, जिसके कारण जीव एक

को मिलने लगेगा। यह कर्मफल कितने ही काल तक मिलता रहता है। कर्मफल मिलने वाली अवधि को स्थिति कहते हैं।

योनि से दूसरी योनि को जाते हुए, पूर्व योनि स्थित शरीर के आकार को रखता है। मनुष्य तिर्यञ्च आदि चार योनियां हैं, उन सम्बन्धी चार आनुपूर्व्य नाम कर्म होता है।

(१५) अगरुलघु नाम कर्म—वह कर्म प्रकृति, जो शरीर को स्थिर रखती है, जिसके होने से शरीर लोहे के सदृश पृथ्वी में धंस नहीं जाता, न रुई के तन्तु के सदृश आकाश में उड़ जाता है।

(१६) उपघात नाम कर्म—जिसके कारण ऐसे शरीर व अंग का होना, जिससे स्वयं अपने शरीर का घात होता हो।

(१७) परघात नाम कर्म—जिसके कारण ऐसे शरीर व अंग का उत्पन्न होना, जिससे दूसरे व्यक्ति के शरीर का घात होता हो।

(१८) आतप नाम कर्म—जिसके कारण आतपकारी शरीर हो।

(१९) उद्योत नाम कर्म—जिसके उदय से प्रकाश रूप शरीर हो।

(२०) उच्छ्वास नाम कर्म—जिसके उदय से शरीर में उच्छ्वास उत्पन्न हो।

(२१) विहायोगति नाम कर्म—जिसके उदय से प्राणी गमन करे। यह प्रशस्त (सुन्दर) व अप्रशस्त दो प्रकार की है।

(२२) प्रत्येक शरीर नाम कर्म—जिसके कारण से एक शरीर में एक ही आत्मा व्याप्त हो। वही आत्मा उस शरीर का स्वामी हो।

(२३) साधारण शरीर नाम कर्म—जिसके कारण एक ही शरीर में वहुत सी आत्मायें व्याप्त हों और वे सब ही उस शरीर को स्वामी हों। एकन्द्रिय जाति के वनस्पति काय में आलू, मूली आदि कितने ही फल एवं भाजी हैं, जिनमें एकन्द्रिय

(४) अनुभाग वन्ध—स्थिति वन्ध के उपरोक्त वर्णन में, जब कर्मफल किसी व्यक्ति को मिलता है, तो किसी कर्म का फल तीव्र होता है और किसी का मन्द। कर्मफल की तीव्र या मन्द शक्ति को अनुभाग कहते हैं।

जाति की कितनी ही आत्मायें व्याप्त हैं और वे सब उसी फल रूपी शरीर के स्वामी हैं (फल में कीड़े आदि हो जाते हैं, इनका उपरोक्त वात से सम्बन्ध बिल्कुल नहीं है)।

(२४) त्रस नाम कर्म—जिसके उदय से जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय शरीर धारण करता है।

(२५) स्थावर नाम कर्म—जिसके कारण जीव पांच प्रकार का एकेन्द्रिय शरीर धारण करता है।

(२६-२७) सुभग व दुर्भग नाम कर्म—जिसके उदय से ऐसा शरीर उत्पन्न हो, जिसके देखने से दूसरों के हृदय में प्रीति या घृणा उत्पन्न हो।

(२८-२९) सुस्वर व दुःस्वर नाम कर्म—जिनके उदय से मनोज्ञ या अमनोज्ञ स्वर उत्पन्न हो।

(३०-३१) शुभ व अशुभ नाम कर्म—जिसके उदय से शरीर के अवयव सुन्दर या कुरूप हों।

(३२-३३) सूक्ष्म वा वादर शरीर नाम कर्म—जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो, जो पृथ्वी, जल में विना रुके हुए निकल जावे या न निकल सके।

(३४) पर्याप्ति नाम कर्म—जिसके उदय से जीव में शरीर, इन्द्रिय आदि के लिये, परमाणु व स्कन्ध ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न हो जावे। यह ६ प्रकार का होता है।

आवाधा काल—उस काल को, जो किसी कर्म वन्धन के समय से लगाकर उसी कर्म के उदय (अर्थात् उसी कर्म के कार्यान्वित होने) तक होता है, उसको आवाधा काल कहा है।

इसके अतिरिक्त इन कर्मों का वर्णन जैन ग्रंथों में और भी भिन्न भिन्न दृष्टियों से किया है, जिनके अध्ययन से कर्म सिद्धान्त का भाव भली भांति

---

(३५) अपर्याप्ति नाम कर्म—जिसके उदय होने से जीव छह पर्याप्तियों में से एक को भी पूर्ण न कर सके।

(३६-३७) स्थिर व अस्थिर नाम कर्म—जिसके उदय होने से सर्दी गर्मी आदि के लगने पर भी, शरीर की धातु व उपधातुओं में स्थिरता रहे या न रहे।

(३८-३९) आदेय व अनादेय नाम कर्म—जिसके उदय से शरीर प्रभायुक्त या प्रभाहीन हो।

(४०-४१) यशःकीर्त्ति व अयशकीर्त्ति नाम कर्म—जिसके उदय से मनुष्य के गुण अथवा अवगुण की ख्याति हो।

(४२) तीर्थंकरत्व नाम कर्म—जिसके कारण मनुष्य अनुपम, विभूतियुक्त तीर्थंकर (अवतार) पद की प्राप्ति करे।

इस प्रकार नाम कर्म के ४२ भेद होते हैं।

(६) गोत्र कर्म—के दो भेद होते हैं उच्च व नीच गोत्र कर्म।

(७) आयु कर्म के ४ भेद हैं, अर्थात् देवआयु, नरक आयु, मनुष्य आयु व तिर्यञ्च आयु (यानी प्रत्येक गति सम्वन्धी आयु)।

(८) वेदनीय कर्म के निम्नलिखित दो भेद होते हैं :—

(१) सातावेदनीय कर्म—जिसके कारण प्राणी को सुख की सामग्री प्राप्त होती है तथा शरीर निरोग होता है।

(२) असातावेदनीय कर्म—जिसके कारण प्राणी को दुख उत्पन्न

समझ में आ जाता है। उन ग्रंथों में प्रतिपादित कर्म वन्धन के अध्ययन से, अनुसन्धान द्वारा निश्चित किये हुए कर्म सिद्धान्त का स्वरूप अधिक स्पष्ट व विश्वसनीय हो जाता है।

करने वाली सामग्रियां प्राप्त हों एवं शरीर रोग व्याधि से युक्त हो।

इस प्रकार उपरोक्त आठ कर्मों के मुख्य ९७ व भेद करने पर १४८ उत्तर प्रकृतियां (भेद) होती हैं। इनका विशेष वर्णन गोमट्टसार, मोक्ष-शास्त्र की सर्वार्थ सिद्धि, राजवार्त्तिक आदि टीकाओं से जाना जा सकता है।

९—जगत का निर्माण

विज्ञान का नियम है कि पदार्थ न कभी उत्पन्न होता है और न कभी नाश। संसार के प्रत्येक पदार्थ की अवस्था में परिवर्तन सदैव होता रहता है, परन्तु उस पदार्थ का मूल तत्व नष्ट कभी नहीं होता। यह नियम अटल है। इसकी सत्यता निर्विवाद, असंदिग्ध रूप से सिद्ध है। पूर्व कथित वर्णन इन नियमों की अटल सत्यता को प्रमाणित करता है। इन नियमों के सत्यता की परीक्षा किसी भी पदार्थ पर की जा सकती है। उदाहरण के तौर पर लोहे को लीजिये।

उससे खड्ग, बर्छी आदि शस्त्र, चाकू, कैंची आदि अनेक प्रकार की आवश्यकताओं का सामान तय्यार होता है। इसके गलाने पर, फिर लोह-पिंड बन जाता है, जिससे अनेक प्रकार के सामान फिर तय्यार किये जाते हैं। लोहा जल, वायु का संयोग पाकर जंग की दशा में बदल जाता है। लोहे की वस्तुयें जंग की दशा में परिवर्तित एवं मिट्टी में मिलती हुई दिखलाई देती हैं। यदि उस जंग मिश्रित मिट्टी को एकत्रित किया जावे, तो उचित प्रयोग करने पर, उसमें से फिर लोहा निकल आता है। लोहा रसायनिक पदार्थों के बनाने में काम आता है। ऐसी दशा में अन्य पदार्थों के संयोग होने पर, वह संयुक्त पदार्थ की दशा में परिवर्तित हो जाता है। उस समय उसमें लोहेपन का कोई गुण दिखलाई नहीं देता है; परन्तु उचित प्रयोग करने पर इन संयुक्त पदार्थों का पृथक्करण हो जाता है और लोहा फिर पृथक् निकल आता है। इस प्रकार लोहे का कोई परमाणु लोहेपन को नहीं छोड़ता है, यद्यपि उसकी अवस्था में अनेक प्रकार का परिवर्तन होता रहता है। यही दशा संसार के अन्य पदार्थों की है। उनकी वाह्य अवस्थाओं में सदैव परिवर्तन होता रहता है, परन्तु उनके

अन्तर्स्थित मूल तत्व का कभी नाश नहीं होता। इस अन्वीक्षण से इस परिणाम पर पहुंचा जाता है कि भौतिक पदार्थ अनादि काल से हैं, इनके बने हुए पदार्थों की वाह्य अवस्था में परिवर्तन सदैव होता रहता है, परन्तु इन पदार्थों के अन्तर्गत मूलतत्व कभी नष्ट नहीं होते हैं।

जीव द्रव्य भी—जैसा पूर्व में निश्चित किया जा चुका है—अनादि काल से है और अनेक योनियों में भ्रमण करता रहता है। इस प्रकार इस जगत के चेतन व अचेतन समस्त पदार्थ अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। ऐसी दशा में इन चेतन व अचेतन समस्त पदार्थों के समूह जगत को भी, अनादि काल से लगातार अनन्त काल पर्यन्त, विद्यमान रहता हुआ मानना होगा। इस प्रकार यह जगत अनादि काल से प्रवाह रूप चला आता हुआ अनन्तकाल पर्यन्त रहेगा। ऐसी दशा में यह भी मानना होगा कि इसका निर्माण कभी नहीं हुआ है। इस जगत के सदैव विद्यमान रहते हुए भी, इसमें सदैव परिवर्तन होते रहेंगे और कभी कभी परिवर्तन इतने प्रवल एवं व्यापी होंगे कि उनको क्रान्ति या प्रलय भी कहा जा सकेगा।

द्वितीय भाग

सत्य मार्ग (चिदानन्द-प्राप्ति मार्ग)

१—क्या सच्चिदानन्द अवस्था प्राप्त की जा सकती है ?

संसार का प्रत्येक प्राणी रोग से पीड़ित, स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्बी जन के वियोग से व्यथित, शत्रु आदि के संयोग से दुखित, भोजन, वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थों के अभाव से चिन्तित एवं जरा, मरण सम्बन्धी कष्टों से भयभीत दिखलाई देता है। इन दुःखों से मुक्त होने एवं सुख प्राप्ति की कामना करता है। मनुष्य भ्रम से सुख को कभी एक वस्तु में, कभी दूसरी वस्तु में समझ लेता है एवं उनके प्राप्त करने में प्रयत्नशील होता है। इस भ्रान्ति एवं भ्रम बुद्धि के कारण ही, अनेक प्रकार के दुःख को सहन करता है। सुख, वास्तव में, किसी बाह्य पदार्थ में निहित नहीं है। यह तो स्वयं आत्मा के भीतर विद्यमान है। आत्मा ज्ञान व आनन्द से ओतप्रोत है[1]। अतएव उस व्यक्ति को—जो वास्तविक सुख की आकांक्षा रखता है—अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना होगा।

आत्मा का यह ज्ञान आनन्दमय स्वरूप कर्म परमाणुओं के समूह सूक्ष्म कार्माण शरीर से आच्छादित व विकृत हो रहा है। इसी कार्माण शरीर के कारण, जीव अज्ञानी हुआ इस संसार में भ्रमण कर रहा है। कभी मनुष्य योनि धारण करता है। कभी हस्ति आदि पशु, शुक आदि पक्षी, कृमि आदि छोटे जन्तु, आम आदि वृक्ष योनि में जन्म लेता है और अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है। इसी

---

[1] जैसा कि पहिले आत्मा के वास्तविक स्वरूप "आनन्द" में निश्चित किया गया है।

कार्माण शरीर के कारण, मनुष्य में काम, क्रोध आदि अशुभ, दया, क्षमा आदि शुभ भावनायें होती हैं। यदि किसी प्रकार जीव इस कर्म बन्धन से मुक्त हो जावे, अपनी आत्मा को बन्धन में रखनेवाले कार्माण शरीर के जाल को नष्ट कर दे, तो इस जीव का वास्तविक स्वरूप प्रगट हो जावेगा और यह जीव संसार के भ्रमण, रोग, व्याधि, जन्म, जरा, मरण के दुःख, शोक आदि से मुक्त होकर सच्चिदानन्द स्वरूप में विराजमान हो जावेगा। उसकी समस्त अव्यक्त आत्मिक शक्तियां पूर्णतया विकसित हो जावेंगी। उसकी दिव्य ज्ञान ज्योति में समस्त पदार्थ अनन्त गुण व पदार्थ सहित आलोकित होने लगेंगे एवं वह शुद्ध, अलौकिक, दिव्य, अनुपम आनन्द की अनुभूति में मग्न हो जावेगा। इस प्रकार कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाना ही, शुद्ध चिदानन्द अवस्था का प्राप्त करना है। अतएव वास्तविक सुख के मुमुक्ष जीव का उद्देश्य कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त होना ही निश्चित होता है।

यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस कर्म बन्धन से मुक्त किस प्रकार हुआ जावे। 'कर्म सिद्धान्त' शीर्षक अध्याय में निर्णय किया गया है कि मनुष्य मन, वचन या शरीर द्वारा जो कार्य करता है, उस कार्य करने के समय विद्यमान भावना के अनुसार, सूक्ष्म परमाणुओं में कर्म फल देने वाली शक्ति उत्पन्न हो जाती है और इन कर्म शक्ति युक्त परमाणुओं का सम्बन्ध आत्मा के साथ हो जाता है। जब कुछ समय पश्चात ये कर्म परमाणु कार्य रूप में परिणत होते हैं अर्थात कर्म फल देते हैं, तो इनका प्रभाव उस मनुष्य पर पड़ने लगता है, उसकी बुद्धि व भावनायें उस कर्म फल के अनुसार हो जाती हैं। इन भावनाओं के अनुसार, वह व्यक्ति फिर नवीन कार्य (कर्म) करता है, जिनके अनुसार वह व्यक्ति फिर नवीन कर्मों का बन्धन करता है। इससे ज्ञात होता है कि मनुष्य की जो भावनायें इस समय विद्यमान हैं, वे पूर्व संचित कर्मों के फल स्वरूप हैं और वे पूर्व संचित कर्म, बंधन होने के समय की विद्यमान भावनाओं के अनुसार,

वन्धे हैं। इस प्रकार भावना व कर्म की कारण कार्य रूप परम्परा का कभी अन्त नहीं होता। जब तक यह कारण कार्य की शृंखला (Chain of cause & effect) नहीं टूटती है, तब तक कर्म बन्धन से मुक्त किस प्रकार हुआ जा सकता है ? यह एक जटिल समस्या है, जिसका समाधान होना नितान्त आवश्यक है। इसके समाधान किये बिना, कर्म बन्धन से मुक्त होने का मार्ग ढूंढ़ा नहीं जा सकता।

उपरोक्त कथन से प्रतीत होता है कि मनुष्य कार्य करने में स्वतंत्र नहीं है, उसको अपने पूर्व संचित कर्मों के फल अनुसार, कार्य करना पड़ता है। कार्य करने के समय, जैसी उसकी भावनायें होती हैं, उन्हीं के अनुसार फिर नवीन कर्म बन्धन होता है। इस प्रकार संसार में उसका भ्रमण कभी समाप्त नहीं होता। संसार में ऐसी घटनायें भी प्रतिदिन होती रहती हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि मनुष्य में पुरुषार्थ बल, संकल्प शक्ति, बुद्धि एवं कार्य करने की स्वतंत्रता भी कितने ही अंशों में विद्यमान है।

प्रायः देखा जाता है कि जो मनुष्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति में प्रयत्न-शील रहते हैं, अनेक विघ्न व वाधाओं के उपस्थित होने पर भी, निश्चित पथ से विचलित नहीं होते हैं, वरन् जो द्विगुण उत्साह से अपने उद्देश्य की सिद्धि में लगे रहते हैं, अन्त में उन पुरुषार्थी मनुष्यों के मनोरथ सफल भी हो जाते हैं। एक विद्यार्थी जो एम० ए० परीक्षा तक शिक्षा प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प कर लेता है एवं उसकी प्राप्ति के लिये अध्ययन करता हुआ प्रयत्न शील होता है, अन्त में वह, कुछ वर्षो के पश्चात, एम० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण होता हुआ दिखलाई देता है। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य इतिहास आदि किसी विषय में पारंगत होने का दृढ़ संकल्प कर लेता है और अपने उद्देश्य के साधन में पुरुषार्थ पूर्वक लग जाता है, तो वह मनुष्य कुछ काल के पश्चात, उस विषय का पंडित हो जाता है। इस प्रकार पुरुषार्थी मनुष्य अपने मनोरथ में सफल होता हुआ दिखलाई देता है। कभी कभी यह भी देखा जाता है कि पुरुषार्थी मनुष्यों के मार्ग

में ऐसी कठिनाइयां आ जाती हैं या ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाती है, जिससे वे अपने मनोरथ में सफल नहीं होने पाते हैं। धन सम्पत्ति को सुख का कारण समझ कर, उसकी प्राप्ति के लिये बहुत से मनुष्य संकल्प करते हैं एवं उसके लिये भरसक प्रयत्न भी करते हैं। उनमें से कुछ मनुष्य विपुल धन सम्पत्ति के स्वामी बन कर, अपने मनोरथ में पूर्णतया सफल हो जाते हैं। कुछ थोड़ी सी पूंजी इकट्ठा कर पाते हैं और कुछ बिल्कुल निर्धन ही रह जाते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य का पुरुषार्थ एक महान शक्ति है, जो प्रायः सफल हो जाती है और कभी कभी निष्फल भी रह जाती है।

यह पुरुषार्थ मनुष्य की आत्मिक शक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति नहीं है। पुरुषार्थ रहते भी जो असफलता होती है, उसका बाह्य दृश्य कारण, बाह्य परिस्थिति एवं मार्ग में उपस्थित बाधायें हैं। इस असफलता का वास्तविक अंतरंग कारण, उस मनुष्य की पूर्व कर्म शक्ति है, जिसके कार्यान्वित होने से सुख दुःख उत्पन्न करने वाली अनेक सामग्रियां उसको प्राप्त होती हैं, जैसा कि पहिले निर्णय किया जा चुका है। इस प्रकार दो शक्तियां—पुरुषार्थ अर्थात आत्मिक शक्ति एवं कर्म शक्ति—प्रत्येक मनुष्य के जीवन में प्रतिदिन कार्य करती रहती हैं। यदि दोनों शक्तियां परस्पर विरोधी हों, तो जो शक्ति अधिक बलवती होती है, उसी के अनुसार कार्य होता हुआ दीखता है।

उदाहरणतः एक व्यक्ति गंगा नदी की धारा में बहता हुआ चला जाता है। यदि गंगा नदी के प्रवाह का वेग उस बहने वाले व्यक्ति के विपरीत तथा उसके तैरने की शक्ति से अधिक हो, तो उस व्यक्ति का तैरने का प्रयत्न धारा प्रवाह के विरुद्ध निष्फल हो जाता है और उसको उस नदी प्रवाह के साथ बहना पड़ता है। यदि उस व्यक्ति के तैरने की शक्ति गंगा नदी की धारा प्रवाह के वेग से अधिक हो, तो वह व्यक्ति गंगा नदी के प्रवाह विरुद्ध तैरने में सफल हो जाता है। यदि उस मनुष्य के

तैरने की शक्ति प्रवाह की दिशा में कार्य करे, तो वह मनुष्य बड़ी सुगमता एवं वेग के साथ तैरने में सफल होता है। ठीक इसी प्रकार जब कर्म शक्ति का प्रभाव आत्मशक्ति (पुरुषार्थ) के विरुद्ध होता है और उस मनुष्य की आत्मशक्ति उस कर्म शक्ति की अपेक्षा बलहीन होती है, तो उस मनुष्य का पुरुषार्थ व प्रयत्न सफल नहीं होता है। परन्तु जब उस व्यक्ति की आत्मिक शक्ति, कर्मशक्ति के विरुद्ध होते हुए भी, उससे अधिक बलवती होती है, तो वह व्यक्ति अपने प्रयत्न में सफल हो जाता है। यह अवश्य होता है कि ऐसी दशा में कर्मशक्ति के विरुद्ध होने के कारण, उस मनुष्य को अनेक कठिनाइयां व आपत्तियां उठानी पड़ती हैं या उसकी सफलता में न्यूनता रहती है। यदि कर्मशक्ति (मनुष्य के) पुरुषार्थ के अनुकूल हो, तो उस मनुष्य का उद्देश्य बड़ी सुगमता व सरलता के साथ पूर्णतया सिद्ध हो जाता है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मनुष्य का पुरुषार्थ (आत्मिक शक्ति) एक महान शक्ति है, जिसके द्वारा वह बड़े बड़े कार्य सम्पादन कर सकता है। कर्म शक्ति का प्रभाव सदैव एकसा नहीं रहता है, कभी तीव्र होता है और कभी मन्द। यदि मनुष्य कर्म बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न निरन्तर उत्साह व दृढ़ संकल्प के साथ करता रहे, तो उसकी आत्मिक शक्ति दिन पर दिन प्रबल होती हुई इतनी अधिक बलवती हो जावेगी कि वह व्यक्ति, कर्म शक्ति के विरुद्ध होते हुए भी, अपने उद्देश्य व प्रयत्न में सफल हो जावेगा।

यह प्रायः देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति—जो अपने प्रारम्भिक जीवन में अत्यन्त कामी, क्रोधी एवं दुराचारी थे—अन्त में शान्त, संयमी व सदाचारी हो जाते हैं[1]। वे पुरुष—जो ग्रहस्थ-अवस्था में इन्द्रिय वासना की तृप्ति में ही लगे रहते हैं और जिन्हें नाना प्रकार के भोग-

---

[1] श्री वाल्मीकि भारत में प्रसिद्ध ऋषि हुए हैं, जिनके नाम को उनकी रचित संस्कृत रामायण ने अमर कर दिया है। प्रारम्भिक जीवन में

विलास, विषय भोग के साधन जुटाने में ही आनन्द आता है—छोटी छोटी शारीरिक पीड़ाओं से घबड़ा जाते हैं, तनिक से कांटे के चुभने से रो पड़ते हैं, पृथ्वी पर सोने से कष्ट प्रतीत करते हैं, भोजन के अप्रिय व अस्वादिष्ट होने से कुपित होकर उसको फेंक देते हैं। जब उनका चित्त सांसारिक भोग विलास से हट जाता है, उनका दृष्टिकोण बदल जाता है एवं उनका ध्येय आत्मशुद्धि बन जाता है तब आत्म संयम व आत्म चिन्तवन के लिये वन का मार्ग लेते हैं। तपस्या द्वारा आत्मशुद्धि करने लगते हैं। पृथ्वी पर लेटने, मच्छरों के काटने, भूख प्यास, शीत, उष्णता आदि शारीरिक कष्टों से उनके मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है। वे शान्ति के साथ प्रसन्नता पूर्वक इन कष्टों को सहन करते हैं, उनके जीवन में इस विशेष परिवर्तन का कारण, उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन, आत्म सुधार का दृढ़ संकल्प एवं आत्मशुद्धि व संयम की ओर पूर्ण पुरुषार्थ के साथ सतत प्रयत्न करना ही है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि यदि मनुष्य दृढ़ संकल्प करके धीरे धीरे निरन्तर आत्म शुद्धि का प्रयत्न करता रहे, तो उसकी आत्मिक शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है एवं उसके अव्यक्त गुण व गुप्त शक्तियां इतनी विकसित हो जाती हैं कि उनके विपरीत तीव्र से तीव्र कर्म शक्ति भी अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती है। जिस का प्रतिफल यह होता है कि जब पूर्व कृत कार्यों के कारण उत्पन्न कर्म शक्ति कार्य रूप में परिणत होती है (अर्थात् कर्म फल देती है) एवं उसका प्रभाव उस व्यक्ति के मन पर पड़ने लगता है और उसके कारण सुख, दुःख, काम-क्रोध आदि भावना उत्पन्न करने वाली वाह्य सामग्रियों का संयोग होता है, तब वह

श्री वाल्मीकि दुराचारी थे। उनका समय चोरी, डाका डालने आदि में व्यतीत होता था। मनुष्य का प्राण ले लेना उनके लिये साधारण बात थी। अन्तिम काल में ऊंची श्रेणी के ऋषि व महापुरुष बन गये थे।

व्यक्ति अपनी आत्मिक शक्ति की प्रावल्यता से, कर्म जनित प्रभाव एवं भावनाओं का सफलता पूर्वक प्रतिरोध करता है। यह कर्म शक्ति उसकी भावना को विकृत करने में असमर्थ रहती है।

कर्म सिद्धान्त शीर्षक अध्याय में यह निश्चित किया जा चुका है कि कार्य करने के समय काम क्रोध आदि भावनाओं में से जो भावना होती है, उसी के कारण तथा अनुसार, सूक्ष्म परमाणुओं में कर्म फल देने वाली शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यदि मन, वचन या शरीर द्वारा कार्य करने के समय मनुष्य के भाव शुद्ध हों अर्थात् काम, क्रोध आदि अशुभ, दया, परोपकार प्रेम आदि शुभ भाव न हों, तो उस समय सूक्ष्म परमाणुओं में किसी प्रकार की भी कर्म शक्ति उत्पन्न न होगी और न वह मनुष्य उस समय नवीन कर्म वन्धन से युक्त होगा। यदि मनुष्य पूर्ण पुरुषार्थ से काम ले, दृढ़ संकल्प के साथ अभ्यास द्वारा आत्मिक शक्ति को इतना दृढ़ कर ले कि पूर्व संचित कर्म शक्ति के कार्यान्वित होने पर भी, उसमें काम-क्रोध आदि कोई भी विभाव उत्पन्न न हो सके, तो उस समय उसके नवीन कर्म वन्धन नहीं होगा। ऐसी दशा निरन्तर होते रहने पर, उसके पूर्व संचित कर्म, कार्य रूप में परिणत होने से, कर्म शक्ति विहीन होते जावेंगे और वह व्यक्ति रागद्वेषादि विभावों के न होने से, भविष्य में नवीन कर्म वन्धन से मुक्त रहेगा। ऐसा करते करते एक समय आ जावेगा, जब कि उस व्यक्ति के पूर्व संचित समस्त कर्म परमाणु कर्म शक्ति विहीन हो जावेंगे और वह व्यक्ति कर्म वन्धन से सर्वथा मुक्त हो जावेगा। कर्म वन्धन से मुक्त होते ही, उसका शुद्ध आत्म स्वरूप—जो कर्म परमाणुओं से आच्छादित व विकृत हो रहा था—प्रगट हो जावेगा। वह आत्मा एक दम अपने दिव्य स्वरूप पूर्ण ज्ञान, दर्शन व वीर्य को प्राप्त कर लेगा एवं अलौकिक दिव्य आनन्द में सदैव के लिये मग्न हो जावेगा। कर्म परमाणुओं के समूह कार्माण शरीर के सर्वथा नष्ट हो जाने से, संसार भ्रमण, रोग, व्याधि आदि समस्त दुखों से सदा के लिये मुक्त हो जावेगा।

२—चिदानन्द स्वरूप प्राप्ति का मार्ग

यह निश्चय हो जाने पर कि आत्मा का शुद्ध चिदानन्द स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है, यह जानना परमावश्यक है कि मुमुक्षु जीव किस मार्ग का अवलम्बन करे कि जिसपर चल कर वह अपने शुद्ध ज्ञान आनन्दमय स्वरूप को प्राप्त कर सके।

मुमुक्षु प्राणी के लिये आवश्यक है कि सबसे प्रथम छानबीन करके अपने वास्तविक स्वरूप का निश्चय करे। जब तक आदर्श निश्चित नहीं, तब तक उसके (आदर्श के) प्राप्त करने का मार्ग कैसे ढूंढ़ा जा सकता है। इसलिये प्रयत्न पूर्वक, दृढ़ता के साथ, निष्पक्ष भाव से भिन्न भिन्न बातों का निर्णय करके, अपने वास्तविक स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। जब उसको यह निश्चित हो जावे कि उसकी आत्मा, पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित एवं दिव्य आनन्द से भरपूर है; उसका यह ज्ञान आनन्दमय स्वरूप उसके पूर्व संचित कर्मों से आच्छादित व विकृत हो रहा है, जिसके कारण उसकी आत्मा अज्ञानी, काम-क्रोध आदि भावनाओं से युक्त, अनेक प्रकार के दुःख एवं चिन्ताओं से पीड़ित दीखता है; यह कार्माण शरीर, पूर्वकृत कार्यों के समय जो रागद्वेष रूप उसकी वृत्तियां थीं, उनके कारण संचित हुआ है; यह व्यक्ति काम-क्रोध आदि समस्त भावना एवं वृत्तियों के त्यागने अर्थात् वीतराग होने से, भविष्य में नवीन कर्म बन्धन से मुक्त रह सकेगा और साथ ही साथ पूर्व संचित कर्म बन्धन को नष्ट भी कर सकेगा; इन पूर्व संचित कर्मों के बन्धन से मुक्त होने पर उसका शुद्ध स्वरूप—जो ज्ञान के तेज से प्रदीप्त है, अलौकिक दिव्य आनन्द से ओत-प्रोत है, अनन्त शक्ति से युक्त है, शांतिमयी है—प्रकट हो जावेगा। इन बातों की दृढ़ भावनायें उसके हृदय में भली-भांति अंकित हो जानी चाहियें।

संदेहात्मक भावों को—जो प्रायः हृदय में उठा करते हैं—विवेक बुद्धि, तीव्र आलोचना एवं हार्दिक पश्चात्ताप के अस्त्रों से भेद कर निकाल दे। उपरोक्त बातों का सन्देह रहित श्रद्धान हृदय-पटल पर भली-भांति अंकित हो जाना चाहिये। शुद्ध चिदानन्द प्राप्ति का आदर्श सदैव सामने रहे एवं उसकी प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्न शील रहे। श्रद्धा का दीप हृदय में सदा प्रज्वलित रहे। इसके प्रकाश विना, अज्ञान अंधकार में, मार्ग नहीं मिलेगा और पद पद पर मार्ग से विचलित होना पड़ेगा। श्रद्धा का दीप हृदय में उस समय तक प्रज्वलित रहे, जब तक उसका स्थान ज्ञान का प्रकाश नहीं ले लेता है।

मार्ग पर चलते हुए मुमुक्षु यात्रीके हृदय में प्रायः भ्रम उत्पन्न होने लगता है; विश्वास की नींव हिलने लगती है; नाना प्रकार के प्रलोभन, चित्त को आकर्षित करनेवाली मनोहर आकृतियां धारण करके, उसके चित्त को डावांडोल कर देते हैं। उसको भासने लगता है कि सांसारिक सुखों के त्यागने में उसने मूर्खता की है; ये सांसारिक भोग तो उसके लिये ही वनाये गये हैं। ऐसी दशा में उसकी एक अनोखी स्थिति हो जाती है। इस सन्देह व भ्रमात्मक स्थिति हो जाने पर, उसको तीव्र विवेक बुद्धि द्वारा आत्मस्वरूप, वर्तमान स्थिति, अन्तिम ध्येय आदि की परीक्षा पुनः करनी पड़ती है। इस परीक्षा के करने पर उसका हृदय निर्मल हो जाता है, उसका आदर्श अधिक स्वच्छ होकर पुनः उसके हृदय मन्दिर में विराजमान हो जाता है; भ्रम नष्ट हो जाता है और श्रद्धा का दीप पुनः द्विगुण प्रकाश से प्रज्वलित हो उठता है।

वह सत्पथ का यात्री पूर्व संचित कर्म शक्ति को—जिसके कारण उसकी वर्तमान स्थिति ज्ञान हीन, मलिन एवं विकृत हो रही है—नष्ट करने के लिये उद्यत होता है। काम-क्रोध आदि कुवृत्तियां तथा अशुभ भावनाओं को—जिनके कारण नवीन कर्म शक्ति उत्पन्न होती है—रोकने के लिये तत्पर होता है। ये कुवृत्तियां व अशुभ भावनायें, मनुष्य

की अनेक प्रकार की इच्छा व वासनाओं से उत्पन्न होती हैं। इनका रोकना सुगम ही नहीं, वरन् अत्यन्त दुष्कर है। ये वासनायें हृदय सागर में जलतरंग की भांति उठा करती हैं; मन की शान्ति को भंग करके उसे क्षुब्ध कर देती हैं। ये वासनायें उसी समय रोकी जा सकती हैं, जब मन नियंत्रित हो जावे, उसकी चंचलता संयम के अंकुश द्वारा वश में कर ली जावे। वासना रोकने एवं मन को नियंत्रित करने के लिये आवश्यक है कि सत्पथ का यात्री इंद्रिय जनित विषय वासना को त्यागे। स्त्रियों के साथ भोग विलास करने, मदिरा आदि मादक वस्तुयें पीकर मदोन्मत्त होने, अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन करने की लालसा, सुन्दर युवतियों के हाव-भाव पूर्ण गाना सुनने एवं नाच देखने की इच्छा, अनेक प्रकार के चटकीले भड़कीले, मन को डावांडोल करने वाले वस्त्र पहिनने तथा इतर फुलेल, क्रीम (Cream) आदि अनेक सुगंधित एवं सौन्दर्य वर्धक पदार्थों से शरीर को सुसज्जित करने की भावना को छोड़ दे। सारांश में उसको अपनी समस्त पाशविक वृत्तियों पर नियंत्रण का अंकुश लगाना पड़ेगा। शरीर को वश में रखने के लिये भोजन की मात्रा एवं संख्या में कमी करनी होगी! कभी कभी उपवास करना होगा। श्रम को मिटाने के लिये शरीर को आवश्यक आराम देते हुए, निद्रा आदि का समय नियत करना होगा। आलस्य व प्रमाद को अपने से दूर रखना होगा। दैनिक व्यवहार में छल कपट, दूसरों को धोखा देना, असत्य बोलना आदि छोड़ना होगा। अपनी इच्छाओं को सीमित रखने के लिये आवश्यक पदार्थों की संख्या, मात्रा आदि में भी परिस्थिति के अनुसार नियम बनाने होंगे। इस प्रकार प्रयत्न व अभ्यास करते रहने से, उसकी क्षुद्र वृत्तियां निर्बल पड़ जावेंगी तथा अशुभ भावनायें लुप्त होने लगेंगी। इन क्षुद्र वृत्तियों के निर्बल होने के साथ साथ, उसके हृदय में दया, प्रेम, परोपकार, शान्ति, नम्रता, निर्भयता आदि सद्गुणों का भी प्रादुर्भाव होगा।

सत्पथ के यात्री के मार्ग में प्रलोभन आकर कभी कभी चट्टान की

भांति खड़े हो जावेंगे। वासना व इच्छायें सुगमता से परास्त नहीं होंगी। उनके साथ घोर संग्राम करना पड़ेगा, ये वार वार नाना प्रकार के सुन्दर आकर्षक रूप वना कर उसको ललचायेंगी और उसको भ्रम में डाल कर सन्मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न करेंगी। जव कभी—जहां कहीं—अवसर मिलेगा, ये वासनायें अप्रत्यक्ष आघात करेंगी और उसको सत्पथ से भ्रष्ट करने का उद्योग करेंगी। ऐसे कठिन अवसरों पर, आदर्श के प्रति अटूट श्रद्धा का प्रज्वलित दीप उसके पथ को प्रकाशित रखेगा और वासना के लुभाने वाले प्रलोभनों से उसकी रक्षा करेगा। इस कंटकाकीर्ण मार्ग से निकल जाने पर, उसमें आत्म शक्ति, आत्म विश्वास, साहस, निर्भयता, विवेक आदि सत्‌गुणों का विकास अधिकाधिक होने लगेगा।

वासना को नियंत्रित रखने के लिये आवश्यक है कि सत्पथ का यात्री अपने प्रतिदिन के कार्यों की समालोचना करे। जो कार्य उसने किये हों, जो शब्द उसने वोले हों या जो विचार उसके हृदय में आये हों, उनको सत्यता की कसौटी पर निर्दयता के साथ जांचे। जांचने पर जो विचार, कार्य या वचन निन्द्य या कलुपित प्रमाणित हों, उन पर हार्दिक पश्चात्ताप करे एवं संकल्प करे, कि भविष्य में ऐसे गर्हित कार्य, वचन या विचार न करेगा। महात्मा गांधी, इब्राहीम लिन्कन आदि महान पुरुषों की जीवनियां वतलाती हैं कि दैनिक कार्यों की समालोचना द्वारा ही ये महान् पुरुष अपनी आत्माओं को उन्नत वना सके हैं। इस प्रकार दैनिक दिनचर्या की भलीभांति समीक्षा करने से, उसका चरित्र एवं मनोवृत्तियां अतीव निर्मल व शुद्ध हो जावेंगी।

सत्पथ यात्री को उपहास के द्वार में से निकल कर जाना होगा। उसके प्रिय मित्र उसका उपहास व मखोल उड़ाने लगेंगे, उसको मूर्ख व सनकी कहेंगे, उसके व्यवहार को सामाजिक जीवन के विरुद्ध व हानिकारक समझेंगे। वे उसके हृदय में ज्ञान के प्रज्वलित प्रकाश को न देख सकेंगे। अपने को अधिक बुद्धिमान समझ कर, उसको उसके कर्तव्य पर

उपदेश देने लगेंगे। इससे उसके हृदय में मानसिक वेदना व ग्लानि उत्पन्न होगी, उसको अपने चारों ओर अंधकार दिखाई पड़ेगा। कुछ काल तक उसकी दशा कर्तव्य विमूढ़, संज्ञाहीन सदृश हो जावेगी। यह मानसिक वेदना उसको आत्मस्वरूप एवं आदर्श पर गहन दृष्टि से विचार करने के लिये बाध्य करेगी। इस आत्म स्वरूप मनन से उसे प्रतीत हो जावेगा, कि उसकी यह मानसिक वेदना उसके हृदय की एक गुप्त वासना का परिणाम है। यह वासना उसके हृदय में अपना यश एवं मित्रों के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनने की भावना के रूप में प्रगट हुई है। इस सत्य के भासने पर मानसिक वेदना उसके हृदय से लुप्त हो जावेगी, उसका चित्त निर्मल ज्ञान से प्रकाशित होकर शान्त हो जावेगा। शान्ति व प्रेम से परिपूर्ण होकर, यात्री आदर्श के मार्ग पर आगे बढ़ेगा।

मुमुक्षु यात्री को सत्पथ पर चलते हुए आगे यह जान पड़ता है कि वह अकेला रह गया है; स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्बी जन, मित्र आदि हितैषियों ने उसे परित्यक्त कर दिया है; उसका कोई साथी नहीं है। अपने को अकेला प्रतीत करके, उसका चित्त खेद खिन्न हो जाता है; मन उचट जाता है; संसार अंधकारमय दीखने लगता है; उसकी दशा विचित्र हो जाती है; अनेक प्रकार के विकल्पों के भंवर में गोता लगाने लगता है। कुछ समय तक, ऐसी दशा में रहने पर, उसका ध्यान संसार की परिवर्तनशील एवं अस्थिर अवस्था की ओर जाता है। पूर्व संचित कर्मों के कारण प्राणी, किस प्रकार भिन्न भिन्न योनियों में, अनेक प्रकार के कष्ट व यंत्रणायें अकेला सह रहा है, कोई उसके दुःख को दूर नही करता है, न उसको विपत्ति से बचाता है, उसको अकेला ही संसार में भ्रमण करना पड़ता है। इनका चित्र उसके नेत्रों के सामने घूमने लगता है। यह जान कर उसका हृदय खेद खिन्न हो जाता है, कि मानव समाज किस प्रकार अपनी वासना पूर्ति के लिये सांसारिक संघर्ष में फंसा हुआ, शारीरिक कष्ट एवं मानसिक चिन्ता से व्यथित है। ऐसी अवस्था में उसके हृदय से अकेले-

पन की अनुभूति का दुःख लुप्त हो जाता है। उसके हृदय में मानव समाज एवं प्राणीमात्र के दुःखों के साथ सहानुभूति, दया व प्रेम जागृत हो जाते हैं। उसका मन मानव समाज के कल्याणकारी कार्यों की ओर प्रवृत्त हो जाता है। प्राणिमात्र की, विशेषकर मानव समाज की, सेवा करना अपना कर्तव्य समझने लगता है। अज्ञान अंधकार को दूर करने, विद्या का प्रकाश फैलाने, रोगियों के लिये चिकित्सा एवं औषधि का प्रवन्ध करने, निर्धन, दीन, मनुष्यों के लिये जीविका के कार्य ढूंढ़ने, आर्थिक सहायता पहुंचाने तथा दुखित जीवों के कष्ट निवारण करने के लिये उद्यत हो जाता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि आदि किसी प्राणी को कष्ट देना उसे अरुचिकर प्रतीत होने लगता है। पशु, पक्षी आदि प्राणियों की हिंसा का सर्वथा त्याग कर देता है। व्यापार आदि सांसारिक कार्यो में अन्य मनुष्यों के साथ प्रतियोगिता करना उसे अच्छा नहीं लगता है, जिससे वहुत से मनुष्य—जो उससे पहिले व्यापार आदि के कारण द्वेष रखते थे—प्रेम करने लगते हैं। सच्चरित्र एवं उच्च वृत्तिधारी मनुष्य—जिनसे वह पहिले परिचित भी न था—उसके सहवास के इच्छुक हो जाते हैं और उसके पास आने लगते हैं।

क्षुद्र वृत्तियों के नष्ट हो जाने पर, उस सत्पथ यात्री के हृदय में शान्ति व उच्च वृत्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है। उसके हृदय में शान्ति, प्रेम, सत्य, दया, क्षमा, नम्रता, सरलता, उदारता आदि उच्च भावनाओं का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। ज्ञान के प्रकाश से उसकी अन्तरात्मा प्रदीप्त होने लगती है, उसके हृदय सागर में दिव्य अलौकिक आनन्द की लहरें, एक के वाद दूसरी, उठने लगती हैं और वह अपनी आत्मा में अपूर्व स्फूर्ति व आह्लाद अनुभव करता है। उसका हृदय निर्मल, उदार व विशाल हो जाता है, विश्व प्रेम, ज्ञान एवं आनन्द से ओत-प्रोत हो जाता है। ऐसी स्थिति में शरीर से ममत्व कम हो जाता है। मोह के क्षीण होने से व्यापार आदि सांसारिक कार्य उसको झंझट प्रतीत होने लगते हैं।

स्त्री, पुत्र, मित्र, गृह, धन, धान्य आदि वस्तुओं से चित्त हट जाता है। गृह में निर्ममत्व होकर, जल में कमल की भांति, अलिप्त रहता है, अथवा गृह त्याग कर सन्यासी जीवन व्यतीत करने लगता है। निर्ममत्व दशा की महिमा 'तत्वज्ञान तरंगिणी' में निम्नलिखित शब्दों में की है:—

निर्ममत्वं परं तत्वं ध्यानं चापि व्रतं सुखं
शीलं स्वरोधनं तस्मान्निर्ममत्वं विचिन्तयेत्।

अर्थात् निर्ममत्व होना महान तत्व है; यही ध्यान, व्रत, सुख, शील एवं इन्द्रिय निरोध है, इसलिये निर्ममत्व भाव का सदा चिन्तवन किया जावे। निर्मोही की दशा साम्य, स्थितप्रज्ञ सदृश हो जाती है। भगवद्-गीता में (२—५५,५६,५७,५८,७१) स्थितप्रज्ञ की स्थिति निम्न प्रकार बतलाई है:—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽगांनीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

अर्थात् हे पार्थ (अर्जुन)! जब कोई मनुष्य अपने मन में उत्पन्न हुई समस्त वासनाओं को त्याग देता है और अपने आप ही में सन्तुष्ट होकर रहता है, उसको स्थित प्रज्ञ कहते हैं। दुःख से जिसके मन को खेद नहीं होता है, सुख में जिसकी आसक्ति नहीं है और जिसके राग, भय, क्रोध नष्ट हो गये हैं, उसको स्थित प्रज्ञ मुनि कहते हैं। सब बातों में जिसका

मन आसक्ति रहित हो गया है और जिसको यथा प्राप्त शुभ अथवा अशुभ वस्तु में प्रसन्नता या विषाद नहीं होता है, उसकी बुद्धि को स्थिर कहा जाता है। जिस प्रकार कछुवा अपने हस्तपाद आदि अंगों को सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब कोई मनुष्य अपनी इन्द्रियों को भोग विलास आदि (इन्द्रियों के) विषयों से हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि को स्थिर कहा जाता है। जो पुरुष सब प्रकार की कामनाओं को त्याग देता है एवं निस्पृह होकर व्यवहार करता है तथा जो ममत्व व अहंकार से विमुक्त है, उसे ही शान्ति मिलती है। इस साम्य स्थिति के सम्बन्ध में श्री अमितगति आचार्य ने 'सामायिक पाठ' में कहा है :—

> दुःखे सुखे वैरिणि बन्धु वर्गे,
> योगे वियोगे भवने वने वा।
> निराकृता शेष ममत्व बुद्धे,
> समं मनो मेऽस्तु सदापिनाथ ॥

अर्थात्—'हे नाथ! समस्त मोह ममता को नष्ट करके, ऐसी साम्य-स्थिति मेरे हृदय को प्रदान करो कि जिससे मैं सुख व दुःख में, शत्रु व मित्र में, लाभ व हानि में, गृह व वन में एक ही समान रहूं।

इस साम्य भाव को पंडित जुगलकिशोर जी ने 'मेरी भावना' नामक पाठ में बड़ी ही सुन्दर ललित कविता में दर्शाया है :—

> होकर सुख में मग्न न फूले, दुख में कभी न घवड़ावे।
> पर्वत नदी श्मशान भयानक, अटवी से नहि भय खावे ॥
> रहे अडोल-अकंप निरन्तर, यह मन दृढ़तर बन जावे।
> इष्ट वियोग अनिष्ट योग में, सहन शीलता दिखलावे ॥

ऐसी साम्य स्थिति हो जाने पर, वह सत्पथ का यात्री संयम व तप द्वारा पूर्व संचित कर्म शक्ति को वेग के साथ नष्ट करने लगता है एवं नवीन कर्मो का बन्धन भी नहीं करता है। जितनी जितनी पूर्व संचित कर्म शक्ति नष्ट होती जाती है, उतनी उतनी ही उसकी अव्यक्त आत्मिक

शक्तियों का विकास होने लगता हैं; उसकी वृत्ति व भावनायें अधिक स्वच्छ व निर्मल होती जाती हैं; उसके अव्यक्त ज्ञानानन्द स्वभाव का प्रकाश बढ़ता जाता है। धैर्य पूर्वक प्रयत्न करते करते, ऐसा समय इस या आगामी जीवन में आ जाता है कि जब उसके समस्त घाति कर्म परमाणुओं का बन्धन टूट जाता है। सम्पूर्ण घाति कर्म शक्ति नष्ट हो जाती है। इस घाति कर्म शक्ति के नष्ट होते ही, वह अपने शुद्ध स्वरूप पूर्ण दर्शन, ज्ञान, आनन्द व वीर्य से जगमगा उठता है। वह आत्मा जीवन्मुक्त होकर, पूर्ण आनन्द से ओत-प्रोत हो जाता है एवं उस दिव्य, अनुपम, अलौकिक आनन्द का आस्वादन करता हुआ उसमें मग्न हो जाता है। उसकी दिव्य ज्ञान ज्योति में संसार के समस्त पदार्थ, उनके सर्व गुण एवं उनकी समस्त अवस्थायें झलकने लगती हैं। विश्व प्रेम से प्रेरित होकर, उसकी दिव्य वाणी का संचार होता है, जिसे सुन कर संसार के प्राणियों की मोह निद्रा भंग हो जाती है एवं वे सन्मार्ग पर लगते हैं।

आयु तथा अन्य अघाति कर्मों के नष्ट हो जाने पर, सूक्ष्म कार्माण शरीर छिन्न भिन्न हो जाता है; इस सूक्ष्म कार्माण शरीर के नष्ट-भ्रष्ट होते ही, वाह्य भौतिक शरीर से भी सम्बन्ध छूट जाता है। वह जीवन्मुक्त आत्मा कृत कार्य होकर परमात्म अवस्था को प्राप्त हो जाता है और संसार के उर्ध्व भाग में जाकर विराजमान हो जाता है। वहां वह अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप में मग्न होकर, अनन्त काल तक दिव्य, अनुपम, अलौकिक आनन्द सुख को भोगता रहता है एवं उसकी दिव्य ज्ञान ज्योति में संसार के समस्त पदार्थ आलोकित होते रहते हैं। कर्मशक्ति के पूर्णतया नष्ट एवं सूक्ष्म कार्माण शरीर के सर्वथा छिन्न भिन्न हो जाने पर, ऐसी कोई शक्ति नहीं रहती है, जो उस परमात्मा के शुद्ध ज्ञान आनन्द स्वरूप में विघ्न डाल सके या उसमें रागद्वेष आदि विभाव उत्पन्न कर सके। इसलिये वह मुक्त आत्मा अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप में सदा के लिए मग्न हो जाता है।

२—निवृत्ति मार्ग

मानव समाज के विकास, मनुष्य के जीवन निर्वाह, स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्वी जन की रक्षा व भरण पोषण, समाज व राष्ट्र की सुव्यवस्था, रक्षा आदि बातों को दृष्टि में रखने से उपरोक्त सत्मार्ग को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है :–

(क) ग्रहस्थ मार्ग—वह मार्ग जो मानव समाज के उन समस्त मनुष्यों के लिये उपयोगी है, जो व्यापार आदि करके धनोपार्जन करते हैं, विवाह करके पत्नी सहित घर में रहते हुए सांसारिक सुखों का उपभोग करते हैं, संतान उत्पन्न करके सृष्टि क्रम को जारी रखते हैं, स्त्री पुत्र आदि का पोषण करते हैं, जिन्हें आमोद प्रमोद के कार्यों में आनन्द आता है, जिनका हृदय विषय वासना की तृप्ति से हटा नहीं है तथा जो समाज एवं राष्ट्र की शिक्षा, रक्षा, सुव्यवस्था आदि कार्यों में लगे हुए हैं।

(ख) सन्यास मार्ग—वह मार्ग जो उन मनुष्यों के लिये श्रेयस्कर है, जिनका हृदय संसार की दुखमयी, चिन्ता युक्त, परिवर्तन शील एवं संघर्ष पूर्ण अवस्था से हट गया है, मोह व ममता के नष्ट हो जाने से जिन्होंने स्त्री, पुत्र, गृह, धन, धान्य, व्यापार आदि सांसारिक कार्यों से अपना सम्वन्ध विच्छेद कर लिया है एवं जो आत्म स्वरूप की वास्तविक स्थिति जानने, ज्ञान, आनन्दमय शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक हैं, जिन्होंने काम, क्रोध आदि तुच्छ वृत्तियों को त्याग दिया है तथा इन क्षुद्र वृत्तियों के नाश हो जाने से, जिनके हृदय में दया, प्रेम आदि उच्च वृत्तियों का प्रादुर्भाव हो गया है। इस प्रकार मनुष्य की परिस्थिति, मानसिक स्थिति एवं विकास पर दृष्टि डालने से, सत्मार्ग के उपरोक्त दो भेद हो जाते हैं. जिनका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है।

(क) गृहस्थधर्म (पचं अणुव्रत)

शुद्ध चिदानन्द स्वरूप प्राप्ति मार्ग के उपरोक्त विवेचन से निम्न-लिखित पांच नियम उद्धृत किये जा सकते हैं, जिन नियमों के यत्न पूर्वक पालन करने से गृहस्थी, मुमुक्षु जीव अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है :—

(१) अहिंसा व्रत—मानव व पशु समाज के किसी प्राणी को भी कष्ट न दे, न ऐसा वचन बोले, जिससे किसी प्राणी को दुख हो और न किसी प्राणी का अहित विचारे। मुमुक्षु जीव को इस प्रकार व्यवहार करना चाहिये कि जिससे न किसी मनुष्य या प्राणी का प्राण संहार हो और न किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट ही पहुंचे। संसार में रह कर जीवन निर्वाह के हेतु व्यापार आदि कार्य करने में सब प्रकार की हिंसा से बचना मनुष्य के लिये असम्भव है, बहुत से कृमि कीट आदि छोटे छोटे जन्तुओं की हिंसा प्रति दिन हुआ करती है जैसे :—

(क) आरम्भिक हिंसा—भोजन बनाने, आग जलाने, गमन करने आदि आरम्भिक कार्यों में बहुत से छोटे छोटे जीवों की—जिनमें से कितने ही दिखलाई भी नहीं देते हैं—हिंसा हुआ करती है, जिनसे सर्वथा बचना गृहस्थी के लिये असम्भव है।

(ख) उद्योगिक हिंसा—कृषि आदि व्यवसाय में बहुत से छोटे छोटे जीवों की हिंसा हुआ करती है। इन छोटे छोटे जीवों की रक्षा करना असम्भव है। कृषि, व्यापार आदि उद्योग बिना, जीवन निर्वाह हो नहीं सकता, इसलिये उपरोक्त प्रकार की हिंसा अनि-वार्य है।

(ग) विरोधी हिंसा—मनुष्य को अपनी, स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्बी जन की, समाज व राष्ट्र की, डाकू, लुटेरे, शत्रु आदि विरोधी प्राणियों

से रक्षा करनी पड़ती है। ऐसी दशा में उत्तम वात तो यह है कि मनुष्य, अपनी आत्मिक शक्ति द्वारा, शान्ति के साथ शत्रुओं का प्रतिरोध करे, जीवन देकर अपने आश्रित जनों की रक्षा करे। परन्तु यदि मनुष्य में, शान्ति के साथ आत्मिक शक्ति द्वारा, प्रतिरोध करने की सामर्थ्य नहीं है, तो उसके लिये उचित है कि शस्त्र द्वारा शत्रु एवं डाकू आदि विरोधी मनुष्यों के आक्रमण का प्रतिरोध करे। यदि अपनी, आश्रित जन एवं समाज व राष्ट्र की रक्षा करने में, आक्रान्ता का संहार भी हो जावे, तो भी वह गृहस्थी अहिंसा अणुव्रत का पालक ही कहलावेगा क्योंकि उसकी भावना हिंसा करने की नहीं है।

डाकू व शत्रुओं के आक्रमण होने पर, भय से कम्पित होकर भाग जाना कदापि उचित नहीं है। भय मानसिक दुर्वलता है, इसको अपने पास भी नहीं आने देना चाहिये। इस प्रकार गृहस्थी मनुष्य के लिये उपरोक्त आरम्भिक, उद्योगिक एवं विरोधी हिंसायें अनिवार्य हैं। गृहस्थी कभी भी उपरोक्त प्रकार की हिंसा करने का इच्छुक नहीं होता है। उसकी भावना तो सदा यही रहती है कि किसी प्रकार की भी हिंसा न हो न किसी प्राणी को कष्ट पहुंचे। प्रत्येक कार्य को सम्भाल कर करता है कि जिससे क्षुद्र जीवों की भी हिंसा विल्कुल न हो या कम से कम संभव हो। हिंसा की भावना के विद्यमान न होने से, वह गृहस्थी हिंसा के पाप का भागी नहीं होता क्योंकि भावना ही कर्म वन्धन का कारण है। हिंसा आदि अशुभ भावना से अशुभ कर्मो का वन्धन होता है और भावना रहित, शुद्ध, वीतराग अवस्था में किसी भी कर्म का वन्धन नहीं होता है।

(घ) संकल्पी हिंसा—उपरोक्त दशाओं के अतिरिक्त मनुष्य का कर्तव्य है कि विचार, संकल्प द्वारा या प्रमाद वश कभी किसी प्राणी का जीवन नष्ट न करे। अपने स्वाद या शौक के लिये किसी पशु या पक्षी को न मारे, न उनका शिकार करे, न मांस भक्षण करे और न ऐसी

वस्तुओं का—जो पशु, पक्षी आदि जन्तुओं के मारे जाने से बनती हैं[1]—उपयोग करे। शरीर रक्षा के लिये अन्न, दुग्ध, घृत, फल, शाक आदि वनस्पति[2] पर ही निर्वाह करे। उसके लिये उचित है कि किसी मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचर, कीट आदि जन्तु को न सतावे, न उनके साथ कठोरता का वर्ताव करे, न उनका अहित विचारे। सेवक, सेविका आदि आश्रित मनुष्यों के साथ क्रूरता का व्यवहार न करे। किसानों के प्रति कठोर वर्ताव करना या उनसे इतना अधिक भूमि कर लेना, जिसके देने पर उनका

---

[1] (१) चमड़े का प्रयोग में अधिक लाना उचित नहीं है, चमड़े के हेतु बहुत से पशु मारे जाते हैं। केवल उस चमड़े के—जो स्वयं मृत पशु से प्राप्त होता है—जूते आदि का प्रयोग में लाया जाना ठीक कहा जा सकता है।

(२) बहुत से पक्षियों के प्राण, उनके सुन्दर परों के लिये हरण किये जाते हैं, इसलिये अहिंसा प्रेमी सज्जनों को उचित है कि इन परों को प्रयोग में न लावें, न यूरुपवासी महिलायें इन परों को अपने टोप में लगावें।

(३) रेशम को भी प्रयोग में लाना उचित नहीं है क्योंकि इसके तय्यार करने में लाखों कीड़ों के प्राण पानी में उबाल कर लिये जाते हैं। कीड़ों के प्राण ले लेने के पश्चात्, उनके कोयों से रेशम के तार उतार लिये जाते हैं।

[2] पुनर्जन्म शीर्षक अध्याय की टिप्पणी में यह दिखलाया गया है कि वृक्ष आदि वनस्पति में भी जीव है। वृक्ष आदि वनस्पति में, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों की अपेक्षा, चेतना आदि आत्मिक शक्तियों का विकास बहुत कम है। जीवित रहने के हेतु मनुष्य के लिये आवश्यक है कि किसी न किसी प्रकार का भोजन किया जावे, इसलिये यह उचित ही है कि मनुष्य पशु, पक्षी, जलचर आदि प्राणियों का—जिनमें ज्ञान आदि

जीवन निर्वाह भी न हो सके, उचित नहीं है। न मजदूरों से इतना अधिक या इतनी देर तक काम लेना उचित है कि जिससे उनका स्वास्थ्य विगड़ जावे। इसी प्रकार ऋण पर इतना अधिक व्याज लेना कभी भी उचित नहीं ठहराया जा सकता, जो न्याय, मनुष्यता, भ्रातृ भाव के विरुद्ध हो और जिस व्याज के ले लेने पर ऋणी तथा उसके कुटुम्वी जन के निर्वाह साधन ही नष्ट हो जावें। गाड़ी, टमटम, अदि वाहनों में चलनेवाले वैल व घोड़ों के साथ भी दया का वर्ताव किया जाना चाहिये; उन पर अधिक बोझा लादना या शक्ति से अधिक दूर तक ले जाना कदापि ठीक नहीं है।

(२) सत्यव्रत—सदैव सत्य वचन कहना उचित है। अपने आर्थिक आदि लाभ के लिये दूसरों को धोखा देना या इस प्रकार कहना, संकेत करना या चुप रहना—जिससे दूसरे मनुष्यों को भ्रम हो जावे या वे अन्यथा प्रकार समझ जावें—असत्य आचरण है। यदि सत्य कह देने से कोई वड़ा अनर्थ होता है, तो ऐसा सत्य भाषण भी उचित नहीं है। यदि किसी सत्य वात के कह देने से, किसी के घर कलह तथा आपस में मार-पीट होने की आशंका हो, तो ऐसी सत्य वात का कहना कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार यदि कोई चोर, डाकू, या अन्य व्यक्ति, किसी व्यक्ति के धन अपहरण करने के हेतु, उस व्यक्ति के घर का भेद लेना चाहे और अपने दुष्ट अभिप्राय को छिपा कर मीठी मीठी वातें वनावे, तो ऐसी अवस्था में उससे सत्य कह देना कभी भी उचित नहीं

आत्मिक शक्तियां अधिक विकसित हैं एवं जिनके प्राण लेने में अपने परिणाम भी अधिक कठोर होते हैं—भक्षण न करे। जीवन निर्वाह के लिये आत्मिक शक्तियों में सवसे कम विकसित वनस्पति पर ही सन्तोषित रहे। वृक्ष व पौधों को भी आवश्यकता से अधिक कष्ट न दे, न उनको तोड़े।

कहा जा सकता। ऐसे अवसरों पर मौन धारण करना ही उपयुक्त है। दूसरे मनुष्यों के गौरव कम करने या अपयश फैलाने के हेतु उनके गुप्त दोषों का प्रगट करना या अन्य प्रकार की बुराई करना अनुचित है। परन्तु यदि समाज या राष्ट्र के किसी उत्तरदायित्व पद पर किसी दुष्ट मनुष्य की नियुक्ति का प्रश्न है या उस मनुष्य के द्वारा राष्ट्र को किसी प्रकार की हानि पहुंचने की संभावना है, यदि उस समय उसकी दुष्टता प्रकट नहीं की जाती, तो राष्ट्र का अहित होगा, ऐसी दशा में समाज के लाभार्थ उसके गुप्त दोष एवं दुष्ट अभिप्राय को प्रकट करना कभी भी अनुचित नहीं ठहराया जा सकता। अन्य मनुष्यों से कठोर, कर्कश, हृदय-भेदी शब्द कहना या गाली देना अनुचित है। वचन सदैव हित, मिष्ट एवं सत्य होने चाहियें। सत्यव्रती के लिये उचित है कि वह सदा सत्य की खोज करे, प्रत्येक बात पर निष्पक्ष बुद्धि से विचार एवं मनन करे, सत्य के लिये बड़े से बड़ा त्याग करने के लिये तत्पर रहे, जो सत्य प्रतीत हो, उसको अंगीकार करे, जो विचार धारणायें असत्य मालूम हों, उनको त्याग दे।

(३) अचौर्य व्रत—स्वार्थ वश अन्य व्यक्तियों के धन आदि पदार्थों का अपहरण करना निन्दनीय चौर्य कर्म है। यदि कोई सम्पत्ति या वस्तु सुपुर्द की जावे, उस वस्तु को हड़प कर लेना या थोड़ा देना भी चोरी में सम्मिलित है। चोरी किये हुऐ भूषण आदि वस्तुओं को, थोड़े से मूल्य में, ले लेना भी चोरी ही है। दूसरे मनुष्यों को चोरी करने की प्रेरणा करना, उत्तेजना देना, चोरी डाके आदि कार्यों की प्रशंसा करना सर्वथा अनुचित है। दूसरे व्यक्ति की वस्तुओं को दवाव डाल कर, धोखा देकर या बहका कर ले लेना भी इस अचौर्य व्रत के विरुद्ध है। किसी अन्य व्यक्ति की अज्ञानता, दुर्व्यवस्था, या मूर्खता से लाभ उठा कर उसकी बहुमूल्य वस्तु को कम मूल्य देकर ले लेने से भी, इस व्रत में दूषण आता है। अनुचित लाभ उठाने के लिये, चुंगी से बचने के हेतु छिपा कर वस्तु

को नगर में लाना, चुंगी के अफसरों को वनावटी वीजक दिखाकर कम चुंगी देना, बनावटी वही खाता दिखला कर इन्कम टैक्स आफिसर से कम इन्कमटैक्स नियत कराना, रेल में बिना टिकट चलना या नीची श्रेणी का टिकट लेकर ऊंची श्रेणी के डिव्वे में वैठ कर जाना, वढ़िया श्रेणी की वस्तु में घटिया श्रेणी की वस्तु मिला देना, छोटे गज़ से नाप देना, तोल में कम दे देना आदि वातें चौर्य कर्म में सम्मिलित हैं। मुमुक्षु जीव के लिये उचित है कि वह अन्य व्यक्तियों के धन या वस्तु को, विना उनकी सम्मति के, ले लेने की भावना को भी हृदय में न लावे।

(४) ब्रह्मचर्य यास्वदारा संतोष व्रत—सबसे उत्तम बात यह है, कि मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचारी रहे, किसी स्त्री के साथ काम सेवन न करे, न काम वासना को हृदय में स्थान दे, अपने मन पर नियंत्रण रखे। पूर्ण ब्रह्मचारी होना साधारण गृहस्थी के लिये कठिन है, इसलिये गृहस्थ के लिये उचित है कि वह अपनी काम वासना को अपनी विवाहिता स्त्री तक सीमित रखे। अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री से—चाहे वह विवाहिता हो या अविवाहिता, गृहस्थिन हो या वेश्या-काम सेवन न करे। स्त्री या लड़कों के साथ अनंग क्रीड़ा करना व्यभिचार से भी अधिक निन्द्य एवं दूषित है। पर स्त्री के साथ अश्लील हास्य करना, मनोहर अंग देखना, रमने की वासना हृदय में लाना, आसक्त होना आदि ब्रह्मचर्य व्रत के विरुद्ध हैं। अपनी विवाहिता स्त्री को भोग उपभोग की सामग्री समझ कर, उसके साथ रात्रि दिवस भोग विलास में रत रहना कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता। इसलिये मुमुक्षु जीव का कर्तव्य है कि काम वासना को वस में करे। जहां तक संभव हो सके, उतना कम अपनी धर्म पत्नी के साथ संभोग करे। श्रेष्ट तो यह है कि केवल संतान उत्पत्ति के हेतु, मासिक धर्म के पश्चात् अपनी धर्म पत्नी के साथ भोग करे। ब्रह्मचर्य व्रती के लिये उपयुक्त है कि वह अपनी आत्मिक शक्ति एवं परिस्थिति पर भलीभांति विचार करके, अपने जीवन पर्यन्त या किंचित काल के

लिये, अपनी स्त्री के साथ भी भोग करने के नियम बनाले। इन नियमों से उसको ब्रह्मचर्य व्रत पालने में बड़ी सहायता मिलेगी।

ब्रह्मचर्य व्रतधारी मनुष्य के लिये उचित है कि मद्य, मांस आदि मादक वस्तु एवं तामसिक भोजन का—जिनसे उसकी विवेक वद्धि में न्यूनता या काम वासना को उत्तेजना मिलती हो—त्याग कर दे। उसके लिये उचित है कि वह सदैव नियमानुसार सात्विक भोजन ही किया करे। ब्रह्मचर्य व्रती के लिये कामोद्दीपन करने वाली स्त्रियों की कथा सुनना एवं कहना, व्यभिचारी स्त्री पुरुषों की संगति करना, कामोत्तेजना करने वाले नाच रंग, थ्येटर, सिनेमा आदि तमाशों में सम्मिलित होना उपयुक्त नहीं है; न उसके लिये ऐसे शृंगार करना या चटकीले, भड़कीले आभूषण पहिनना ही उचित है, जिनसे स्वयं या अन्य दर्शक गण के मन में विकार उत्पन्न हो। यदि ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाली स्त्री हो, तो उसको भी उपरोक्त प्रकार ही आचरण करना चाहिये।

(५) परिग्रह प्रमाण व्रत—संसार के प्रत्येक मनुष्य में अनेक प्रकार की वासना एवं इच्छायें होती हैं। इन वासनाओंकी तृप्ति के लिये मनुष्य भोग, उपभोग की नाना प्रकार की सामग्रियां एकत्रित करके परिग्रह बढ़ाता है। इन सामग्रियों के जुटाने के लिये धन की आवश्यकता होती है। धन को प्राप्त करने के लिये व्यापार आदि कार्य करता है। व्यापार आदि कार्य करने में अन्य मनुष्यों के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती है, जिससे प्रायः दूसरों के स्वत्वों पर भी आक्रमण हो जाता है। अन्य मनुष्यों के साथ संघर्ष होने से, उसे एवं अन्य मनुष्यों को अनेक प्रकार की चिन्ता व कष्ट उठाने पड़ते हैं, जिनसे उसके भाव कलुषित होते हैं और उसको विवश होकर नवीन कर्मों के बन्धन में पड़ना पड़ता है। जितनी जितनी मनुष्य की वासनायें अधिक होंगी, उनकी तृप्ति के लिये उतनी ही अधिक सामग्रियां एकत्रित एवं धन संचय की आवश्यकता होगी, उतनी

ही अधिक प्रतियोगिता अन्य मनुष्यों के साथ करनी पड़ेगी एवं उतनी ही अधिक चिन्ता व कष्ट झेलने पड़ेंगे। मुमुक्षु जीव के लिये उचित है कि अपनी वासनाओं को नियमित करने के लिये, अपनी एवं अपने आश्रित स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्बी जन की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर, जीवन पर्यन्त या कुछ अवधि के लिये ऐसे नियम वना ले कि भोग, उपभोग की सामग्रियां अधिक से अधिक वह कितनी कितनी रखेगा, स्थावर व जंगम सम्पत्ति किस सीमा तक रख सकेगा तथा किस सीमा तक वार्षिक आय को अपनावेगा। अपनी इच्छाओं को अधिक नियंत्रित व कम करने के हेतु, परिवार के अतिरिक्त अपने निजी व्यक्तित्व के प्रयोग के लिये भी, भोजन, वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थों के ग्रहण करने के नियम वना ले। इस प्रकार भोजन, वस्त्र, धन, सम्पत्ति, गृह आदि परिग्रह को परिमित करने से, उसकी वासनायें नियंत्रित हो जावेंगी। उसकी इच्छा निर्धारित सीमा का उलंघन करके सीमा से वाह्य वस्तुओं के ग्रहण करने की न होगी। इन इच्छाओं के सीमित होने से, शान्ति उसके हृदय में विराजमान होगी और वह सत्पथ की ओर वेग से वढ़ेगा। यदि निर्धारित सीमा से अधिक धन व सम्पत्ति संयोग से प्राप्त हो जावे या निर्धारित सीमा से अधिक आय हो, तो उस अधिक सम्पत्ति व आय को अपनावे नहीं, वरन् परोपकार के कार्य में लगा दे।

उपरोक्त अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह परिमाण पंच व्रतों का वर्णन, गृहस्थ की मानसिक शक्तियों के विकास एवं उसकी परिस्थिति ध्यान में रख कर किया गया है। संन्यासी व साधु की मनोवृत्ति व स्वाभाविक गुणों के विकास को दृष्टि में रखने से उपरोक्त पंच व्रतों के स्वरूप में कितना ही परिवर्तन हो जाता है। साधु के व्रतों को महाव्रत और गृहस्थी के व्रतों को अणुव्रत कहना अनुचित न होगा।

(ख) सन्यासधर्म (पंच महाव्रत)

महाव्रतों का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) अहिंसा महाव्रत—साधु किसी प्रकार की भी हिंसा, किसी दशा में भी, नहीं करते हैं, न कोई ऐसा कार्य करते हैं, न ऐसा शब्द ही बोलते हैं, जिनसे श्रोता या अन्य किसी जीव को किसी प्रकार का कष्ट पहुंचे और न कभी किसी जीव का अहित विचारते हैं। जीवन निर्वाह के हेतु, किसी प्रकार का व्यवसाय नहीं करते हैं। कृषि आदि व्यवसाय के त्याग देने से, उद्योग सम्बन्धी कृमि, कीट आदि छोटे छोटे जन्तुओं की हिंसा से बच जाते हैं। व्यापार छोड़ देने से, व्यापार सम्बन्धी प्रबंध एवं प्रतियोगिता से उत्पन्न चिन्तायें व कष्ट—अपने तथा अन्य मनुष्यों को होते थे—बन्द हो जाते हैं। उदर पूर्त्ति के लिये न भोजन बनाते, न अग्नि जलाते, न अन्य कोई कार्य करते हैं, इसलिये भोजन सम्बन्धी सब प्रकार की हिंसा उनसे दूर रहती है। शरीर को जीवित रखने के लिये भिक्षावृत्ति स्वीकार करते हैं। आत्मोन्नति के हेतु, साधु प्रायः नगर, ग्राम आदि बस्ती से बाहर रहते हैं, भोजन के लिये दिन में एक बार नगर या ग्राम में आते हैं और भिक्षा द्वारा सात्विक भोजन प्राप्त करके लौट जाते हैं। मार्ग में पृथ्वी को देखते हुये चलते हैं कि कहीं प्रमाद से कोई जीव उनके पैरों के नीचे दब कर न मर जावे, न कष्ट पावे। सम्हाल कर पुस्तक, कमंडल आदि उपकरण जीव शून्य स्थान में रखते हैं। इस प्रकार भोजन, गमन आदि में किसी आरम्भिक हिंसा का दोष उन्हें नहीं लगता है।

यदि कोई मनुष्य, पशु, कीट, पतंग आदि उनके शरीर को किसी प्रकार का कष्ट पहुंचावे, तो उसको हर्ष पूर्वक सहन करते हैं। यदि कोई मनुष्य या पशु उन पर आक्रमण करे, उनके शरीर को तलवार, दान्त, पंजा आदि तीक्ष्ण शस्त्र या अंग से विदार डाले एवं प्राण भी लेले, तो भी आक्रान्ता मनुष्य या पशु पर अपनी रक्षा के हेतु न वार करते हैं, न भय-

भीत होकर भागते हैं, न उनसे दीनता पूर्वक प्राण दान की प्रार्थना करते हैं, न उनको कर्कश, कठोर आदि अपशब्द कहते हैं, वरन् आई हुई आपत्ति एवं कष्ट को आत्मशक्ति द्वारा शान्ति पूर्वक सहन करते हैं, अपने मन को चंचल, शोकातुर नहीं होने देते हैं, न मन में उससे क्रोधित होते हैं, न रुष्ट, न उसका अहित मन में विचारते हैं। यदि कोई व्यक्ति उनको दुराचारी, कपटी, पाखंडी, मूर्ख, ढोंगी आदि अपशब्द व गाली दे, तो उनको सुन कर न मन में दुखित होते हैं और न अपने तप, ज्ञान, त्याग आदि कार्यों की प्रशंसा सुन कर प्रसन्न होते हैं। सुख, दुःख, योग, वियोग, लाभ, हानि, शत्रु, मित्र, गृह, वन आदि प्रत्येक अवस्था में साम्य बुद्धि रखते हैं। मन में समस्त मानव व प्राणि समाज के हित की बात विचारते हैं एवं उनको कल्याण पथ पर चलने के लिये, अपने सदुपदेश व आदर्श जीवन के द्वारा प्रेरित व उत्साहित करते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि साधु आरम्भिक, उद्योगिक, विरोधी एवं संकल्पी चारों प्रकार की हिंसा को सर्वथा त्याग कर, अहिंसा महाव्रत का पूर्णतया पालन करते हैं।

(२) सत्य महाव्रत—साधु पुरुष सत्यव्रत का पूर्णतया पालन करते हैं। सांसारिक कार्य—जिनमें व्यस्त होने से गृहस्थ प्रायः किसी न किसी अंश में असत्य बोलता है या उसका व्यवहार असत्य होता है—उन समस्त सांसारिक कार्य एवं तत्सम्बन्धी मोह त्याग देने से, साधु पुरुष लौकिक कार्य सम्बन्धी समस्त प्रकार के असत्यों से अपनी पूर्णतया रक्षा करते हैं। गृहस्थ व्यक्ति राजा, प्रजा, धनी, निर्धनी, स्वामी, भृत्य, विद्वान, मूर्ख आदि भिन्न-भिन्न स्थिति वाले मनुष्यों से भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार करता है। आन्तरिक भावों को प्रायः छिपाकर गृहस्थ किसी के प्रति अत्यन्त विनय प्रदर्शित करता है, किसी के साथ रूक्षता का वर्ताव करता है, किसी की आज्ञा नम्रतापूर्वक शिरोधार्य करके पालन करता है, किसी को गर्व के साथ आदेश देता है। साधु उपरोक्त असद्-व्यवहार से दूर रहते हैं। धनी, निर्धनी, विद्वान, मूर्ख, ऊंच, नीच, सदा-

चारी, पापी आदि भिन्न-भिन्न स्थिति वाले मनुष्य से एकसा वर्ताव करते हैं। न किसी की खुशामद करते हैं, न किसी से दुर्व्यवहार। साधु के मन में जैसे भाव होते हैं, उन्हीं के अनुसार उनका व्यवहार होता है, वैसे ही शब्द उनके मुख से निकलते हैं। इस प्रकार साधु विचार, वचन एवं व्यवहार में सर्वथा पूर्ण सत्यता का प्रयोग करते हैं। साधु का लक्ष्य उच्च, शुद्ध, सच्चिदानन्द अवस्था का प्राप्त करना होता है। अतः वे अपने प्रत्येक कार्य व विचारधारा में सत्यता से काम लेते हैं। पुरानी धारणा एवं रूढ़ियों की सत्यता की कसौटी पर परीक्षा करते हैं, यदि जांचने पर वे असत्य, भ्रमपूर्ण या हानिकर प्रतीत होती हैं, तो उनको तत्काल त्याग देते हैं। साधु पुरुष, क्रोध के आवेश में, लोभ के वशीभूत होकर, शोकग्रस्त या हास्य में भी कभी असत्य वचन नहीं कहते हैं। वास्तव में काम, क्रोध, लोभ, शोक, हास्य आदि क्षुद्र वृत्तियां ही उनकी नष्ट हो जाती हैं। उनके वचन सदैव दूसरों के लिये हितकारी, मृदु एवं सत्य होते हैं। इस प्रकार साधु पुरुष सत्य महाव्रत का पूर्णतया पालन करते हैं।

(३) अचौर्य महाव्रत—साधु पुरुष किसी व्यक्ति के किसी पदार्थ को भी उसकी सम्मति के बिना कभी ग्रहण नहीं करते हैं। संयम द्वारा इन्द्रियों के नियंत्रित, काम, क्रोध आदि कषाय एवं इच्छाओं के अत्यन्त क्षीण हो जाने से, साधु पुरुष की आवश्यकतायें ही बहुत कम हो जाती हैं। शरीर को जीवित रखने के लिये साधारण अल्प भोजन की, ज्ञानवृद्धि के लिये शास्त्र की, शौच आदि कार्य के लिये कमंडल की आवश्यकता होती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति गृहस्थ सुगमता के साथ श्रद्धा-पूर्वक कर देता है। इद्रियों के पूर्णतया नियंत्रित हो जाने एवं आवश्य-कताओं के न रहने से, अन्य व्यक्ति के किसी पदार्थ के ग्रहण करने की इच्छा ही साधु पुरुष को नहीं होती। साधु पुरुष किसी व्यक्ति से किसी वस्तु की याचना नहीं करता है। यदि गृहस्थ श्रद्धा-पूर्वक आवश्यक वस्तु उन्हें भेंट करना चाहे और उन्हें उसके ग्रहण करने की आवश्यकता प्रतीत

होवे, तो वे उस वस्तु को ले लेते हैं। यदि साधु पुरुष को गृहस्थी के वचन, व्यवहार या आकृति से यह भास जावे कि वह वस्तु को प्रेम व भक्ति से देना नहीं चाहता है और उस वस्तु को पृथक् होने में उसे दुख होता है, तो वे उस वस्तु को कदापि ग्रहण नहीं करते हैं। साधु पुरुष किसी गृहस्थी को ऐसा उपदेश नहीं देते हैं, जिससे उसकी प्रवृत्ति चौर्य आदि कार्य में लगे या जिसके करने से अन्य व्यक्तियों के धन का किसी प्रकार से अपहरण हो। साधु पुरुष इस प्रकार अचौर्य महाव्रत को मन, वचन एवं व्यवहार में पूर्णतया प्रयोग में लाते हैं।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत—भोगविलास से सर्वथा चित्त हट जाने के कारण, साधु पुरुष अपनी विवाहिता स्त्री का भी परित्याग कर देते हैं। स्त्री मात्र को माता, वहिन व पुत्री के तुल्य समझने लगते हैं। अपने हृदय में कामवासना को प्रवेश नहीं होने देते हैं। जो भोगविलास उन्होंने अपने प्रारम्भिक गृहस्थ जीवन में भोगे थे, उन्हें न याद करते हैं और न मन में उनकी स्मृति को ही आने देते हैं। संयम के अंकुश द्वारा मन को वश में रखते हैं। उसको इधर उधर सांसारिक कार्यों में भ्रमण करने से रोकते हैं। इस भय से कि कहीं कामवासना उनके हृदय में किसी गुप्त द्वार से प्रवेश न कर जावे, वे किसी स्त्री से भी एकान्त में वार्तालाप नहीं करते हैं, न किसी स्त्री के भोगविलास, शृंगार, रूप, रंग आदि की कथा कहते हैं, न श्रवण करते हैं और न इस प्रकार के विचार ही मन में लाते हैं। भिक्षा वृत्ति में भी साधु ऐसे तामसिक या राजसिक भोजन—जिससे कामवृत्ति उत्तेजित या प्रोत्साहित होती हो—ग्रहण नहीं करते हैं। नगर व ग्राम जहां पर स्त्री पुरुषों का समागम प्रत्येक समय अधिकता से रहता है, साधु पुरुष उस स्थान से दूर जंगल में रहना पसन्द करते हैं। इस प्रकार साधु ब्रह्मचर्य महाव्रत का सर्वथा पालन करते हैं। यदि ब्रह्मचर्य महाव्रत को धारण करने वाली साध्वी हो, तो उसको भी साधु के समान ही उपरोक्त व्रत को कठोरता के साथ पालन करना चाहिये।

(५) परिग्रह त्याग महाव्रत—वास्तव में रागद्वेप, मोह आदि विभाव ही मनुष्य को सांसारिक कार्यों में फंसाते एवं विपय वासना में लिप्त रखते हैं; अतएव साधु पुरुष के लिये आवश्यक है कि वह अपनी अन्तरात्मा को शुद्ध करे एवं रागद्वेप आदि प्रवृत्ति को—जो आत्मा का वास्तविक वन्धन एवं अन्तरंग परिग्रह है—त्याग कर दे। साधु के लिये उचित है कि क्रोध को—जिसके आवेश में आने से मनुष्य की वुद्धि भ्रष्ट हो जाती है एवं जिससे उसकी दशा उन्मत्त व्यक्ति सदृश हो जाती है—नष्ट कर दे। गर्व—जिसके मन में प्रादुर्भाव होने से मनुष्य अपनी महत्ता प्रदर्शित करने के लिये, अन्य मनुष्यों का तिरस्कार करता है एवं अहित करने के लिये उतारू हो जाता है—उस अभिमान को साधु अपने पास न आने दे। कपट—जिसकी तनिक सी मात्रा होने पर भी मनुष्य की आत्मा मलिन हो जाती है एवं उसका व्यवहार कृत्रिम वन जाता है—उस कपट की भावना को साधु अपने हृदय में से निकाल दे। लोभ—जो समस्त पाप एवं दुष्ट आचरण का मूल है, जिसके कारण मनुष्य अनेक प्रकार के कुत्सित व निकृष्ट कार्य तक कर डालता है—उस लोभ को साधु अपने पास फटकने न दे। मोह, जिसके कारण सारा संसार दुखित है उस मोह को—चाहे वह अपने शरीर से हो या अपने शरीर से पृथक् स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्वी जन, शिष्य, मित्र आदि अन्य मनुष्य, पशु, धन-सम्पत्ति आदि से हो—तिलांजली दे दे। सांसारिक वस्तुओं में से किसी से राग और किसी से द्वेष की भावना प्रायः मनुष्य के हृदय में उत्पन्न हुआ करती हैं, उसको साधु अपने हृदय में उत्पन्न न होने दे। साधु पुरुष के लिये उचित है कि वह गृहस्थ की भांति उपहास न करे, न किसी आवश्यक वस्तु के छिन्न-भिन्न या पृथक् होने या शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा होने से शोकग्रस्त हो। अपने शरीर एवं प्रियजनों से ममत्व भाव के क्षीण एवं अन्य पदार्थ सम्वन्धी लोभ के नष्ट हो जाने पर, साधु के लिये भय का कोई कारण शेप नहीं रहता है, इसलिये साधु को चाहिये कि वह

निर्जन वन, उपवन आदि स्थानों में सिंह की भांति निर्भय होकर विहार करे।

मन, वचन व शरीर पर पूरा नियंत्रण रखे, न मन को इधर उधर भटकने दे, न उसमें किसी प्रकार के कुत्सित विचार आने दे। विचार कर वचन बोले एवं शरीर पर भी अंकुश रखे। काम, क्रोध, आदि अशुभ भावनायें—जो आत्मा के शान्ति आनन्द स्वरूप को विकृत करने वाले अन्तरंग परिग्रह हैं—त्याग देने पर साधु के लिये उपयुक्त है कि उनको उत्पन्न करने वाले वाह्य वन्धनों का भी परित्याग कर दे। मोह उत्पन्न करने वाले गृहस्थ जीवन के साथी स्त्री, पुत्र आदि प्रिय जन, गाय, तोता आदि पालतू पशु, पक्षी, गाड़ी, मोटर आदि वाहन, भोगविलास तथा ऐश्वर्य की नाना प्रकार की सामग्रियां एवं साधन को छोड़ दे। आत्मोन्नति के उपयुक्त जीवन के लिये जो वस्तुयें अत्यन्त आवश्यक हों, उन्हीं तक अपनी आवश्यकताओं को परिमित कर ले। सीमित कर लेने पर ये आवश्यकतायें वहुत थोड़ी रह जाती हैं। तपस्या आदि के द्वारा कर्म-वन्धन नष्ट एवं आत्मोन्नति करने के हेतु शरीर को जीवित रखना-आवश्यक है, अतः उसकी मृत्यु से रक्षा करने के लिये भोजन ग्रहण करना पड़ता है। भोजन के लिये साधु भिक्षावृत्ति स्वीकार करते हैं। भिक्षा के लिये साधु दिन में एक वार वस्ती में जाते हैं। गृहस्थी श्रद्धापूर्वक सात्विक शुद्ध आहार भेंट कर देते हैं, जिसको प्राप्त करके साधु नगर से वापिस चले आते हैं।

साधु प्रायः निर्जन स्थान में रहते हैं; शौच आदि से निवृत्त होने के हेतु जल रखने के लिये पात्र की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिये साधु काष्ट का वना हुआ कमंडल रखते हैं। स्वल्प मूल्य होने के कारण इसके चोरी जाने की भी आशंका नहीं रहती है। इस आवश्यकता को श्रद्धालु गृहस्थ वड़ी सुगमता से पूरा कर देते हैं।

ज्ञानवृद्धि के हेतु साधु को प्रायः शास्त्र की आवश्यकता होती है।

इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये, साधु नगरों में विद्यमान शास्त्र भंडारों से उपयुक्त ग्रंथ स्वाध्याय के लिये ले लेते हैं अथवा उनकी इस आवश्यकता को गृहस्थ मनुष्य पूर्ण कर देते हैं। उपरोक्त वस्तुओं के अतिरिक्त साधुओं को किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, इसलिये वे अपनी आवश्यकताओं को उपरोक्त वस्तुओं तक ही सीमित कर देते हैं। किसी एक स्थान पर लगातार बहुत समय तक रहने से प्रायः मनुष्य को उस स्थान विशेष से प्रीति हो जाती है, इसलिये साधु किसी स्थान विशेष पर बहुत समय तक नहीं ठहरते हैं; विचरण करते रहते हैं। इस प्रकार साधु अन्तरंग व बहिरंग समस्त परिग्रह, विकार एवं विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओं का परित्याग करके शुद्ध, निर्मल, अपरिग्रही, स्वावलम्बी, संयमी, आत्मध्यानी बन जाते हैं।

४—प्रवृत्ति मार्ग (विधेयात्मक पक्ष)

उपरोक्त अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रहत्याग पंच व्रतों के वर्णन से स्पष्ट है कि उसमें केवल यही निश्चित किया गया है कि गृहस्थ व साधुस्थिति में मनुष्य को किस-किस कर्म, वचन या भावना को त्याग देना चाहिये अर्थात् उपरोक्त पंच व्रतों का विवेचन सच्चिदानन्द स्वरूप प्राप्ति के मार्ग का केवल निवृत्ति या निषेधात्मक पक्ष है। इस आदर्श मार्ग के जब तक दूसरे पक्ष प्रवृत्ति या विधेयात्मक का—अर्थात् किस-किस स्थिति में मनुष्य के लिये क्या-क्या करना उचित है—वर्णन नहीं किया जाता है, तब तक सच्चिदानन्द स्वरूप प्राप्ति के मार्ग का कथन अधूरा रह जाता है। मुमुक्षु जीव के लिये यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि वह किस-किस स्थिति में प्रतिदिन या आवश्यकता पड़ने पर क्या-क्या कार्य करे, जिससे वह अपने उद्देश्य में सफल हो सके।

(क) गृहस्थ के षट आवश्यक नियम

चिदानन्द स्वरूप प्राप्ति मार्ग के उपरोक्त कथन से कुछ विधेयात्मक नियम उद्धृत किये जा सकते हैं। मनुष्य की गृहस्थ एवं सन्यास अवस्था को दृष्टि में रखने से इन नियमों में भी कितना ही अन्तर पड़ जाता है, इसलिये प्रथम ही गृहस्थ अवस्था के अनुकूल इन विधेयात्मक नियमों का वर्णन किया जाता है :—

(१) देवोपासना—जिन्होंने आत्म संयम, तपस्या, योग, ध्यान, आदि के द्वारा कर्मबन्धन को नष्ट करके शुद्ध जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लिया है; पूर्ण ज्ञान ज्योति के प्रज्वलित हो जाने से जिन्होंने संसार के समस्त पदार्थ एवं उनके समस्त गुण व अवस्थाओं को भलीभांति जान

लिया है; जो सांसारिक समस्त दुखों से मुक्त होकर निजानन्द में—जो अनुपम, अलौकिक, अक्षुण्ण एवं शास्वत है—मग्न हो गये हैं; ऐसी महान् आत्मायें आराधाना के योग्य हैं। ये हमको मार्ग प्रदर्शन कराती हैं। ये ही अर्हत् या अरहन्तदेव[१] हैं। इन्हीं की दिव्यवाणी से संसार के प्राणियों को आत्मज्ञान होता है, जिससे कितनी ही आत्मायें संसार सागर से पार उतरने में समर्थ हो जाती हैं। अन्त में ये परमात्मा भौतिक शरीर को त्याग कर निर्वाण पद को प्राप्त हो जाते हैं, जहां शास्वत् सच्चिदानन्द स्वरूप में मग्न रहकर अनन्तकाल तक अनुपम दिव्य आनन्द का उपभोग करते हैं एवं जिनके दिव्य ज्ञान में जगत के समस्त पदार्थ अपने अनन्त गुण व पर्याय सहित आलोकित होते रहते हैं।

इनका ज्वलन्त उदाहरण, साहस, तपस्या, आत्मसंयम, जितेन्द्रियता, धैर्य एवं काम, क्रोध आदि मानसिक दुर्बलताओं पर इनकी विजय हमारे अन्धकारमय जीवन में सूर्य प्रकाश सदृश है। आत्मोन्नति के लिये आवश्यक है कि इन आराधना योग्य, परम शान्त, सौम्य, भव्य, आनन्दमयी मुद्रा का चित्र[२] हमारे नेत्रों के सामने रहे। हम इनके गुणों का स्तवन करें एवं इनके जीवन पर विचारें कि इन्होंने किस प्रकार रागद्वेष आदि प्रवृत्ति पर विजय, कर्मबन्धन का क्षय, शुद्ध चिदानन्द स्वरूप प्राप्ति

---

[१] अर्हत् शब्द संस्कृत की अर्ह (पूजना) धातु से बना है, इसलिये अर्हत् उस महान आत्मा को कहते हैं, जो पूजने योग्य हो। अर्हत् शब्द का प्राकृत में अरहन्त हो जाता है। इन्हीं को सांख्य, योग, बौद्ध एवं जैन दर्शन ने अर्हत् या अरहन्त कहा है।

[२] काग़ज़ के फ़ोटो आदि चित्र अल्प काल में ही नष्ट हो जाते हैं, इसलिये इन चित्रों को चिरस्थायी बनाने के लिये यह उपयुक्त होगा कि ये चित्र पाषाण, पीतल आदि धातु के बनाये जावें और इनकी स्थापना उचित विशेष स्थान पर की जावे, जहां प्रत्येक व्यक्ति सुगमता से आ सके।

आदि महान कार्य किये हैं। ऐसा करने से गृहस्थ अपने आदर्श की ओर अग्रसर होगा। यही उपासना एवं भक्ति है। गृहस्थ के लिये उचित है कि वह प्रतिदिन कुछ काल तक प्रातः या सायंकाल या दोनों समय अपने सुभीते के अनुसार देवोपासना किया करे।

इसके अतिरिक्त वे महापुरुष, जो सत्पथ के पथिक बन कर अभी तक जीवन्मुक्त तो नहीं हुए हैं, परन्तु जो उस मार्ग का कितना ही भाग तय कर चुके हैं, जिनकी आत्मा कितने ही दर्जे तक शान्त, निर्मल एवं स्वच्छ हो चुकी है, जो अपने सदुपदेश द्वारा संसार के प्राणियों को सत्मार्ग पर लगाते हैं, वे हमारे गुरु हैं। उनकी भक्ति करना भी हमारे लिये श्रेयस्कर है।

(२) स्वाध्याय—आत्मोन्नति के लिये आवश्यक है कि ज्ञानवृद्धि दिन प्रतिदिन होती रहे। ज्ञानवृद्धि स्व अनुभव या पर अनुभव द्वारा प्राप्त होती है। संसार के पदार्थ एवं प्रतिदिन के व्यवहार व धारणाओं के ध्यानपूर्वक अवलोकन एवं उनपर मनन करने से स्व अनुभव प्राप्त होता है। जो ज्ञान व अनुभव पूर्व काल में महान पुरुषों ने प्राप्त किया था और जिसको मानव समाज के उपकारार्थ ग्रंथों में अंकित कर दिया है, वह ज्ञान पर अनुभव है। आत्मा को उन्नत एवं ज्ञानविकास करने के हेतु, गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन आध्यात्मिक, नैतिक, महान पुरुषों के जीवन चरित्र सम्बन्धी आदि विषयों पर ग्रंथों का स्वाध्याय कुछ समय के लिये किया करे एवं अध्ययन किये हुए विषय पर विचार व मनन किया करे। यदि कोई अधिक विद्वान, त्यागी पुरुष किसी ग्रंथ को बांचे, तो उसको ध्यानपूर्वक श्रवण करे। ऐसा करने से गृहस्थी की आत्मा उन्नत होगी एवं उसके ज्ञान में वृद्धि व विचारों में उदारता आवेगी।

(३) ध्यान या योग—मुमुक्षु जीव के लिये उचित है कि वह चिदानन्द आदर्श को सदैव अपने सामने रखे। आदर्श को सामने रखने के लिये अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप का ध्यान करना आवश्यक है। ध्यान

करने के लिये मनुष्य को चाहिये कि वह प्रतिदिन कुछ समय तक प्रातः मध्याह्न या सायंकाल या दो या तीन समय, एकान्त स्थान में पद्मासन आदि आसनों में से ऐसा आसन लगावे कि जिसमें स्थित होने से, न तो शरीर पर आलस्य का प्रभाव पड़े और न शरीर में तनावट आदि के कारण अरुचि उत्पन्न हो। मन्द-मन्द स्वांस अन्दर लेता एवं वाहर निकालता हुआ, अपने मन को इन्द्रियों के विषय, सांसारिक चेतन व अचेतन पदार्थ एवं स्त्री, पुत्र आदि प्रियजन की ओर से पूर्णतया हटावे। अपने शरीर को भी आत्मा से पृथक् समझकर, अपने मन व ध्यान को अपनी आत्मा में स्थिर करे। विचार करे कि वह ज्ञानमयी है, अपने दिव्य ज्ञान नेत्रों से संसार के समस्त चराचर वस्तुओं को देख रहा है। ऐसा करने से अपूर्व ज्ञान का प्रकाश उसको प्रतीत होगा। फिर यह अनुभव करे कि वह आनन्दमयी है, पूर्ण आनन्द से ओतप्रोत है, आनन्द की लहरें, उसके हृदय में एक के वाद दूसरी उठ रही हैं, यहां तक कि वे उसके समस्त शरीर में व्याप्त हो गई हैं। ऐसा विचारने से वह एक अलौकिक, अनुपम, दिव्य आनन्द का अनुभव करेगा, जिससे उसका हृदय पुलकित हो जावेगा, उसे अपने भीतर एक अनोखी स्फूर्ति, उत्साह एवं आत्मिक शक्ति का संचार प्रतीत होगा। इस आनन्द की उमंग के सामने संसार के समस्त आमोद प्रमोद, एवं इन्द्रिय विषय की तृप्ति से उत्पन्न हुए सांसारिक सुख तुच्छ एवं हेय प्रतीत होंगे। यह आनन्द की उमंग उसके वास्तविक स्वरूप आनन्द की झलक है। यह ज्ञान का प्रकाश व आनन्द की तरंग उसके आदर्श चिदानन्द स्वरूप का आभास है। चिदानन्द स्वरूप की यह झलक उस मुमुक्षु जीव को मानसिक एवं शारीरिक कष्ट व आपत्ति में शान्त चित्त एवं स्थिर रखेगी, उसे विचलित नहीं होने देगी एवं सन्देह व भ्रम के अन्धकार में दीपशिखा के समान मार्ग को प्रकाशित रखेगी। आसन लगाने पर, यदि गृहस्थ मनुष्य का मन इन्द्रिय विषयों की ओर से खिचकर आत्मध्यान में स्थिर न हो, तो वह गृहस्थी अपने परम आराध्यदेव अर्हत्

की शान्त सौम्य मुद्रा का चित्र अपने हृदय मन्दिर में विराजमान करे। विचार करे कि अर्हत् देव किस प्रकार अपने ज्ञानचक्षु से त्रिलोक के समस्त पदार्थों का अवलोकन कर रहे हैं एवं अनुभव करे कि किस प्रकार वे अपने आनन्द स्वरूप में मग्न होकर, अनुपम, अलौकिक दिव्य आनन्द का रसास्वादन कर रहे हैं। ऐसा अनुभव करने पर, वह व्यक्ति स्वयं अपने आत्म-ध्यान में स्थिर हो जावेगा। उसे अपने भीतर आनन्द की लहरें बहती हुई दिखलाई देंगी, जिससे प्रभावित होकर उसकी आत्मा आह्लाद से प्रफुल्लित हो उठेगी।

उपरोक्त ध्यान व समाधि के अतिरिक्त, मुमुक्षु जीव के लिये उचित है कि वह आत्म स्वरूप पर विचार एवं मनन करे, यह भी विचारे कि संसार के समस्त प्राणियों की आत्मायें उसकी आत्मा के सदृश ही हैं, कर्मों के आवरण में विभिन्नता होने के कारण ही, इन प्राणियों की आत्माओं में विभिन्नता दिखलाई देती है। ऐसा विचारने से उसके हृदय में प्राणी समाज के प्रति दया व प्रेम के भाव उत्पन्न होंगे एवं क्षमा, नम्रता, सरलता आदि उच्च वृत्तियां भी जागृत हो जावेंगी और उसकी आत्मा अधिक निर्मल एवं उन्नत होने लगेगी।

(४) आलोचना—मुमुक्षु जीव के लिये श्रेयस्कर है कि वह प्रतिदिन ध्यान के अवसर पर या किसी अन्य समय, एकान्त में बैठकर व्यतीत हुए दिन के अपने समस्त प्रशस्त व अप्रशस्त कार्यों की निष्पक्ष दृष्टि से समालोचना किया करे। दिन में जो अनुचित कार्य उससे हुए हों, जो दुष्ट या कुत्सित विचार उसके हृदय में आये हों या जो मिथ्या, कठोर, अहित अथवा अनुचित शब्द उसके मुख से निकले हों, उनपर पश्चात्ताप करे, उनके लिये अपने को धिक्कारे व भर्त्सना करे। यह संकल्प करे कि भविष्य में मैं ऐसे अनुचित कार्य नहीं करूंगा और न ही ऐसे दुष्ट विचारों को हृदय में स्थान दूंगा अथवा अयोग्य शब्दों का उच्चारण करूंगा। इस प्रकार निरन्तर आलोचना करते रहने से, उस गृहस्थ मनुष्य का चरित्र उच्च

एवं हृदय विशाल हो जावेगा। पहिले जिस व्यवहार में उसे कोई त्रुटि नहीं दीखती थी, समालोचना द्वारा चरित्र के अधिक स्वच्छ हो जाने पर, उसे उस व्यवहार में अब त्रुटियां दिखलाई देने लगेंगी। उनको दूर करने के लिये वह अधिकाधिक प्रयत्न करेगा, जिसका परिणाम यह होगा कि उसका चारित्र अधिक स्वच्छ व उज्वल एवं उसका हृदय अधिक उदार व विशाल हो जावगा। उसके उच्च चरित्र की छाप उसके प्रत्येक व्यवहार एवं कार्य पर पड़ने लगेगी। उसका व्यवहार अधिक सरल, शुद्ध एवं निष्कपट हो जावेगा।

(५) संयम व तप—कल्याणपथ अनुगामी के लिये आवश्यक है कि वह ऐसे उपाय करे, जिसके करने से अपने हृदय में जल तरंग की भांति उठने वाली इच्छा व वासना पर नियंत्रण प्राप्त हो जावे और उसका मन इन्द्रियों के विषयों में लिप्त न हो। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये यह उचित होगा कि वह इन्द्रिय विषय के क्षेत्र को सीमित करे। कामवासना रोकने के लिये, अपनी विवाहिता स्त्री के साथ विषयसेवन के भी नियम बना ले। जिह्वा इन्द्रिय को वश में रखने के लिये भोजन को नियमित कर ले, जैसे रात्रि भोजन त्याग, सप्ताह में एक या दो दिन उपवास, नीरस भोजन ग्रहण आदि। इस प्रकार कामवासना व स्वादु रस की लोलुपता को संयमित करने से, वह अपनी स्पर्श एवं जिह्वा इन्द्रिय पर नियंत्रण प्राप्त कर सकेगा। इसी भांति अन्य इन्द्रियों की विषयवासना में वृद्धि करने वाले नाचघर, थ्येटर, क्लब, सिनेमा आदि में सम्मिलित होने, देखने, गाना सुनने, सुन्दर चटकीले भड़कीले वस्त्र पहिनने, सौन्दर्यवर्धक पदार्थों के संग्रहित करने आदि के नियमित करने से, वह मुमुक्षु जीव अपने नेत्र व कर्ण इन्द्रिय के विषयों पर पर्याप्त नियंत्रण प्राप्त कर सकेगा। इतर फुलेल, क्रीम आदि सुगन्धित पदार्थों के प्रयोग को सीमित करने से, नासिका इन्द्रिय के विषय पर संयम प्राप्त कर लेगा। सांसारिक वस्तुओं में मोह व ममता होने के कारण मन इधर उधर भटकता है; अनेक प्रकार

के संकल्प विकल्प मन में उठा करते हैं। अतः सांसारिक वस्तुओं में मोह कम एवं नियंत्रित कर देने से, मन की चंचलता कम हो जाती है और उसको अपने मन पर नियंत्रण कितने ही अंशों में प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार पंच इन्द्रिय एवं छठे मन के विषयों को सीमित कर देने से, इन्द्रियों पर संयम प्राप्त हो जाता है और विषयवासना कम एवं नष्ट हो जाती है। इन्द्रियों का वश में कर लेना ही संयम है और यह संयम तप का मुख्य अंग है।

(६) परोपकार, सेवाधर्म या दान—देवोपासना आदि उपरोक्त पांच नियम जो दैनिक व्यवहार के लिये बतलाये गये हैं, उनमें केवल एक या दो घंटे प्रतिदिन व्यतीत होते हैं। मनुष्य मन, वचन अथवा शरीर द्वारा, कुछ न कुछ कार्य प्रति क्षण करता रहता है। प्रति क्षण मनोभावना के अनुसार, उसके नवीन कर्मों का वन्धन होता रहता है। इसलिये गृहस्थ मनुष्य के लिये उचित है कि वह देवोपासना आदि उपरोक्त पंच आवश्यक कार्यों में एक या दो घंटे तक लगे रहने से ही सन्तुष्ट न हो जावे। उसको अपने शेष घंटों के कार्य पर भी ध्यान रखना होगा कि कहीं प्रमाद के कारण इस शेष समय में अशुभ कर्मों का वन्धन न हो जावे। इस आवश्यकता के अतिरिक्त, गृहस्थ मनुष्य की एक और भी आवश्यकता है।

प्रत्येक मनुष्य सांसारिक वस्तुओं में ऐसा लिप्त है, स्त्री पुत्र आदि कुटुम्बी जन एवं अपने शरीर की मोह ममता में ऐसा फंसा है कि यह जानता हुआ भी कि उसकी आत्मा इन सब से पृथक् एवं भिन्न है, फिर भी उसका ममत्व उनसे नहीं छूटता है। इस ममता के भाव को कम करने एवं छुड़ाने की अत्यन्त आवश्यकता है। उपरोक्त दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति की केवल एक ही औषधि है कि वह समस्त प्राणी समाज के प्रति प्रेम व सहानुभूति, दुखित जीवों पर दया, मानव समाज पर उपकार एवं उसकी सेवा की भावनायें अपने हृदय में धारण तथा वृद्धि करे और इन भावनाओं को हृदय के भीतर सुषुप्ति दशा में ही न पड़ा रहने दे, वरन्

इन भावनाओं को कार्य रूप में परिणत करने का भरसक प्रयत्न करे। सेवा के भाव हृदय में रखने, निस्वार्थ भाव से मानव एवं प्राणी समाज की सेवा में लगने तथा उनका दुख दूर करने के लिये, गाढ़ परिश्रम से प्राप्त किया हुआ द्रव्य व्यय करने एवं शारीरिक कष्ट उठाने से उपरोक्त दोनों आवश्यकतायें पूर्ण हो जाती हैं। परोपकार की भावना हृदय में रहने से, अशुभ कर्मों का वन्धन नहीं होता है, केवल शुभ कर्म ही वंधते हैं। अन्य प्राणियों की प्रेमपूर्वक सेवा करने में जो शारीरिक कष्ट या वेदना उसको उठानी पड़ती है, अथवा अन्य मनुष्य या समाज के हितार्थ, जो धन व्यय करता या दान देता है, उससे उसकी ममत्व भावना कम एवं नष्ट होती है। इस प्रकार परोपकार, सेवाधर्म या दान गृहस्थ के लिये सब से अधिक उपयोगी एवं आवश्यक है।

गृहस्थ मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने कुटुम्बी, सम्वन्धी व निकट जन के कल्याण व लाभार्थ कार्य करे, तथा समाज व देश के उद्धार एवं समृद्धि के कार्यों में प्रयत्नशील रहे। निकटवर्ती पशु, पक्षी आदि जीवों को भी सुख पहुंचावे, भूल कर भी कष्ट न दे। गृहस्थी के लिये उचित है कि धीरे-धीरे, परन्तु दृढ़तापूर्वक अपने सेवाधर्म को अपनी समाज एवं देश तक ही सीमित न रखे, किन्तु उसकी सीमा को वढ़ा कर संसार की समस्त मानव तथा पशु समाज तक कर दे, संसार के समस्त प्राणियों के कल्याण की वातें सोचे एवं विचारों को कार्यान्वित करे। परोपकार के समस्त कार्य चार भाग में विभक्त किये जा सकते हैं :—

(क) आहार दान—साधु, त्यागी एवं सत्पुरुषों को शुद्ध, सात्विक आहार देना, वुभुक्षित, पीड़ित, पंगु आदि अशक्त व्यक्तियों को भोजन देना, अनाथ वालकों का पालन पोषण, अनाथालय आदि की स्थापना, निर्धन एवं जीविका हीन आदि मनुष्यों को व्यापार आदि कार्यों में लगा कर उनकी आजीविका का प्रवन्ध कर देना आदि कार्य आजीविका सम्वन्धी सेवा धर्म में सम्मिलित हैं।

(ख) विद्यादान—बाल-बालिकाओं को ऐसी शिक्षा देना, दिलाना या धन आदि द्वारा सहायता देना जिससे उनके ज्ञान का विकास हो एवं आध्यात्मिक, नैतिक, व्यापारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय ज्ञान की वृद्धि हो ताकि वे योग्य नागरिक बनकर जीवन निर्वाह सुगमता से कर सकें, अपने कर्तव्यों का पालन उचित प्रकार से करते हुए, न्यायोचित विधि से धनोपार्जन एवं अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति कर सकें और अपने अन्तिम लक्ष्य व आदर्श को आंखों से ओझल होने न दें। शिल्प, वाणिज्य आदि आजीविका सम्बन्धी शिक्षा, समाज उपयोगी विज्ञान आदि समस्त प्रकार की शिक्षायें इसी विद्यादान या शिक्षा सम्बन्धी सेवाधर्म में गर्भित हैं।

(ग) औषधिदान—रोगग्रस्त, व्याधियुक्त मनुष्यों की सेवा, सुश्रूषा एवं चिकित्सा का उचित प्रबन्ध करना, निशुल्क चिकित्सालय खोलना, रोगी पशुओं के लिये अस्पताल जारी करना, ऐसे कार्य करना, जिनसे जनता का स्वास्थ्य ठीक रहे, रोग न फैलें, वायु स्वच्छ रहे, उपरोक्त कार्यों में सहायता देना, अन्य मनुष्यों को ऐसे कार्य करने के लिये प्रेरणा या उत्साहित करना आदि समस्त कार्य इस चिकित्सा सम्बन्धी सेवाधर्म या औषधिदान में गर्भित हैं।

(घ) विपत्ति निवारण या अभयदान—यदि कोई मनुष्य किसी कष्ट से पीड़ित हो, विपत्ति में ग्रसित हो या किसी भय से कम्पित हो, तो उस कष्ट, विपत्ति एवं भय का निवारण करे। समाज व देश पर आये हुए अग्नि एवं जल प्रकोप, प्लेग, हैज़ा, इन्फ्लुयंजा आदि महामारी तथा अन्य प्रकार की आकस्मिक आपत्तियों को दूर करे। शत्रु, डाकू आदि मनुष्यों के आक्रमण या उनके द्वारा सताये व पीड़ित हुए देशवासियों की रक्षा करे। देश, समाज, परिवार आदि की उपरोक्त प्रकार की आकस्मिक विपत्ति एवं भय से रक्षा करना इस विपत्ति निवारण सम्बन्धी सेवाधर्म या अभयदान में सम्मिलित है।

(ख) सन्यासी के षट आवश्यक नियम

साधु जीवन की परिस्थिति ध्यान में रखने से, उपरोक्त देवोपासना आदि षट विधेयात्मक नियमों के स्वरूप में कितना ही अन्तर पड़ जाता है। इसलिये सन्यास अवस्था की दशा में इन नियमों के स्वरूप का कुछ वर्णन करना अनुचित न होगा।

(१) देवोपासना—काम, क्रोध आदि क्षुद्र वृत्तियां जिनकी नष्ट हो गई हैं और जो निरन्तर अभ्यास द्वारा अपनी आत्मा के उन्नत करने में उद्यमशील हैं, ऐसे साधु मुनियों के लिये उचित ही है कि वे अपने आदर्श—शुद्ध चिदानन्द परमात्म अवस्था—को अपने ज्ञाननेत्रों के सन्मुख रखें, एवं चिदानन्द, शान्त, सौम्य मुद्रा का चित्र अपने हृदय मन्दिर में विराजमान करें। वे सुधारूप, वीतराग, शान्त मुद्रा, अलौकिक दिव्यज्ञान ज्योति, अनुपम दिव्य आनन्द, अनन्त सामर्थ्य आदि गुणों का स्तवन करें, उन पर विचारें एवं मनन करें। ऐसा करने से आदर्श का प्रज्वलित प्रदीप सदैव प्रदीप्त रहेगा, उनके मार्ग को प्रकाशित रखेगा एवं ध्येय की ओर अग्रसर होने के लिये उत्साहित करेगा। साधु जीवन की उच्च मानसिक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए, यह आवश्यक प्रतीत नहीं होता कि ध्यान आदि कार्य के लिये चिदानन्द, शान्त, परमात्म अवस्था का धातु पाषाण आदि का बना हुआ कोई चित्र या मूर्त्ति उनके नेत्रों के सन्मुख रहे या इस कार्य के लिये वे किसी देवालय आदि स्थान में जावें। उनमें इतनी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है कि वे उन महान आत्माओं के गुण, तपस्या, शान्त मुद्रा आदि के सुन्दर चित्र अपने हृदय में भलीभांति खींच सकते हैं। तथापि देवालय में जाकर शान्त अर्हत् अवस्था की मूर्त्ति के दर्शन करना उनकी आत्मोन्नति में बाधक नहीं है, उस शान्त सौम्य मुद्रायुक्त मूर्त्ति के सन्मुख परमात्म अवस्था के गुणों का स्तवन कर सकते हैं, अपने परम आराध्य देव शुद्ध चिदानन्द परमात्मा का गुणानुवाद ही देवोपासना है।

(२) स्वाध्याय—आत्मिक उन्नति के हेतु, गृहस्थ के समान साधु के लिये भी उपयुक्त ग्रंथों का अध्ययन, श्रवण एवं मनन करना उचित है। स्वाध्याय से ज्ञान वृद्धि एवं मानसिक शक्तियों का विकास होता है। ज्ञान वृद्धि से प्रत्येक वस्तु के यथार्थ समझने में सहायता मिलती है एवं आदर्श के वास्तविक स्वरूप का अनुभव विशद रूप से होता है।

(३) ध्यान या योग—साधु के लिये उचित है कि वे पद्मासन आदि उपयुक्त आसन लगा कर, आत्मस्वरूप का ध्यान गृहस्थ से कहीं अधिक करें; अपने शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव का अनुभव करें; अन्तर्स्थित आनन्दस्वरूप में मग्न होकर, अमृतमयी सुख का आस्वादन करें। सतत अभ्यास द्वारा इस ध्यान, योग व समाधि में उन्नतशील रहें; धीरे-धीरे समय में वृद्धि करें; दिन में एक बार ध्यान लगा लेने पर ही सन्तुष्ट न रहें, प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल तीन वार ध्यान लगावें तथा प्रति समय आत्मध्यान में लीन रहने का प्रयत्न करते रहें। ध्यान के आसन आदि के सम्बन्ध में श्री अमितगति आचार्य ने कहा है :—

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदनी,
विधानतो नो फलको विनिर्मितम्।
यतो निरस्ताक्ष कषाय विद्विषः,
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः॥
न संस्तरो भद्र समाधिसाधनं,
न लोकपूजा न च संघमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं,
विमुच्य सर्व्वामपि वाह्यवासनाम्॥

अर्थात् ध्यान करने के लिये पाषाण की शिला, कुशा या पृथ्वी के आसन की आवश्यकता नहीं है। विद्वानों के लिये वह आत्मा ही स्वयं पवित्र आसन है, जिसने क्रोध आदि कषाय (कुवृत्ति) व इन्द्रिय विषय वासना रूपी शत्रु का संहार कर दिया है। हे मित्र! आत्मध्यान के

लिये न किसी आसन की, न लोकपूजा की और न सभा सोसायटी की आवश्यकता है। जिस किसी प्रकार अपने हृदय से वाह्य वस्तुओं की वासना को निकाल कर, अपने ही स्वरूप में प्रति क्षण लवलीन रहे, यही ध्यान एवं समाधि है।

योग के सम्बन्ध में श्री भगवद्गीता में कहा है :—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवातिष्ठते।
निस्पृहः सर्व कामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥६।१८।
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योग सेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥६।२०।

अर्थात् जिस समय समस्त वासनाओं की इच्छा से मुक्त होकर साधक का निश्चल चित्त आत्मा में ही स्थिर होता है, उस समय उसको योग युक्त कहते हैं। योगाभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त जिस समय स्थिर होता है, उस समय वह आत्मा अपनी आत्मा को आत्म द्वारा साक्षात् देखता हुआ आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है। योग के सम्बन्ध में योगदर्शन में कहा है :—

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः। तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥१।१-२।

अर्थात्—जिस समय चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है, उस समय आत्मा (दृष्टु) अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है। यही—चित्तवृत्तिनिरोध—योग है। योगदर्शन के विभूतिपाद में कहा है :—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव[1] समाधिः ॥३॥

अर्थात्—जब ध्याता का ध्यान ही ध्येय के आकार रूप हो जाता है, कोई भेद ध्याता, ध्यान व ध्येय में नहीं रहता है, उस समय समाधि होती है।

---

[1] ध्यान का स्वरूप शून्य के समान विदित होता है अर्थात् ध्येय के ध्यान में मग्न होने से ध्याता को अपनी विभिन्नता का ज्ञान नहीं रहता है।

समाधि अवस्था में ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों मिल जाते हैं। आत्मा अपना ही ध्यान अपने ही द्वारा करता है, इनमें कोई भेद नहीं रहता है। इसको बड़े ही सुन्दर छन्दों में कविवर दौलतराम जी ने छहढ़ाले में कहा है :—

निज मांहि निज के हेत निज करि, आपको आपैं गह्यौ।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मंझार कछु भेद न रह्यौ॥
जहां ध्यान ध्याता ध्येय को न, विकल्प वच भेद न जहां।
चिद्भाव कर्म चिदेश करता, चेतना किरया तहां॥
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध, उपयोग की निश्चल दसा।
प्रगटी जहां दृग् ज्ञान व्रत ये, तीनधा एकैलसा॥[1]

ध्यान में मग्न होने से जिस आनन्द का आस्वादन होता है, जिससे हृदय प्रफुल्लित एवं शरीर पुलकित हो जाता है, उससे साधु के मन में इतनी दृढ़ता, साहस, धीरता एवं सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है कि साधु भूख, प्यास, उष्णता, शीत आदि के कष्ट, मनुष्य, पशु, मच्छर आदि जन्तु द्वारा होने वाली पीड़ा को शान्ति के साथ हर्षपूर्वक सहन करता है। ये शारीरिक कष्ट व पीड़ायें तपस्यायुक्त सन्यासी जीवन में प्रायः होती

---

[1] जब आत्मा अपने लिये, अपने द्वारा अपने स्वरूप में अपने को ही ग्रहण करता है, जब गुणी व गुण में, ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय (जिसको जाना जाता है) में कुछ भेद नहीं रहता है, जब ध्याता, ध्यान व ध्येय (जिसका ध्यान किया जावे) में किसी प्रकार का भेद विचार या शब्द द्वारा नहीं किया जा सकता, जहां चेतन कर्त्ता, चैतन्य कर्म व चेतन क्रिया तीनों मिल कर एक हो गये हैं, उनमें कोई भेद नहीं रहा है, जहां आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर हो गया है और जब आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन, अनुभव एवं तल्लीनता होकर एकपने का अनुभव होता है, वही अवस्था समाधि अवस्था है।

ही रहती हैं। शरीर से मोह ममता हटाने व आत्मशक्ति को प्रबल करने के हेतु साधु के लिये आवश्यक है कि वह कभी-कभी शरीर की अस्थिर, क्षणभंगुर अवस्था एवं संसार की परिवर्तनशील दशा पर भी चिन्तवन किया करे।

वह विचार करे कि संसार में स्त्री, पुत्र, पशु, गृह, धन सम्पत्ति आदि समस्त चेतन व अचेतन पदार्थ क्षणभंगुर एवं नाशवान हैं। स्वयं उसका शरीर नष्ट होने वाला है। जब रोग, व्याधि, आपत्ति या मृत्यु आती है, तो इस शरीर की कोई रक्षा नहीं कर सकता। यह जीव अपने कर्मों के कारण, भिन्न-भिन्न योनि में जन्मता एवं नाना प्रकार के दुख व आपत्तियों को झेलता हुआ भ्रमण करता है। मनुष्य जो कुछ कार्य करता है, उसका फल स्वयं भोगता है, उसका कोई साझीदार नहीं होता। स्त्री, पुत्र, मित्र, सेवक आदि कोई भी मनुष्य उसके साथ नहीं जाता है। यह शरीर मांस, रुधिर, मल, मूत्रादि दुर्गन्धित एवं मलिन वस्तुओं का बना है, इसकी नासिका, गुदा आदि नव द्वारों से सदा अत्यन्त घिनावना मल बहता है। यह शरीर भौतिक पदार्थों से उत्पन्न हुआ है, मृत्यु होने पर छिन्न-भिन्न हो जाता है, ऐसे घिनावने, मल, मूत्रादि दुर्गन्धित पदार्थों से भरे हुए, नष्ट होने वाले शरीर से मोह ममता करना मूर्खता है। स्त्री, पुत्र आदि कुटुम्बी जन, मित्र, सेवक आदि अन्य मनुष्यों का सम्बन्ध तो शरीर ही से है, इसलिये उनसे ममता करना और भी मूर्खता है। इस प्रकार की बार-बार भावना एवं विचारने से अपने शरीर एवं संसार के अन्य चेतन व अचेतन पदार्थों से मोह व ममता नष्ट हो जाती है। साधु का चित्त कभी कभी बाह्य कष्टों से खेदखिन्न हो जाता है, ऐसी दशा में उपरोक्त भावना एवं विचार से फिर दृढ़ता आ जाती है, चित्त स्थिर हो जाता है और साधु फिर ध्यानारूढ़ हो जाता है।

(४) आलोचना—अपने पूर्व कृत कार्यों का पर्यावलोकन मुनि के लिये गृहस्थ से भी अधिक आवश्यक है। अपने आदर्श की प्राप्ति एवं

नवीन कर्म-बन्धन निरोध के हेतु, साधु के लिये आवश्यक है कि उसको अपने मन, वचन एवं शरीर पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हो। ऐसा देखा जाता है कि वे व्यक्ति जो एकान्त में रहने, विचारने एवं मनन करने का कार्य अधिक करते हैं, उनमें एक प्रकार की सनक सी उत्पन्न हो जाती है, उनके हृदय में अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प उठा करते हैं, उनका मन स्वेच्छाचारी होकर संकल्प सागर में गोते लगाया करता है, जिसके कारण उन्हें अपने शरीर की भी सुध नहीं रहती है। साधु के लिये नितान्त आवश्यक है कि वे अपने मन रूपी तुरंग को विना लगाम के न विचरने दें, अनुचित विचारों को हृदय में न आने दें, न काम क्रोध आदि अप्रशस्त भावना को अपने अन्तस्थल में स्थान दें, न शरीर सम्बन्धी किसी कार्य में प्रमाद को पास फटकने दें। मन, वचन व शरीर को संयमित रखने के हेतु, साधु के लिये आवश्यक है कि वे प्रतिदिन अपने विचार, मानसिक चेष्टा, वचन एवं शरीर सम्बन्धी कार्यों की सूक्ष्म दृष्टि से, कठोरता के साथ आलोचना किया करें, प्रत्येक त्रुटि पर पश्चात्ताप करें एवं भविष्य में उन त्रुटियों के न करने का संकल्प करें। ऐसा करने से उनका मन स्वच्छ एवं चरित्र निर्मल हो जावेगा तथा उनको अपने मन, वचन तथा शरीर पर पूरा नियंत्रण प्राप्त हो सकेगा।

(५) तप—मनोभावना को शुद्ध एवं चरित्र को निर्मल, स्वच्छ रखने से मनुष्य के नवीन कर्मबन्धन का निरोध हो जाता है। यदि शुभ नवीन कर्म का बन्धन होता है, तो वह क्षण स्थायी रहता है। उसके अभी तक पूर्व संचित कर्मों के समूह का बन्धन विद्यमान है, जब तक वह पूर्व संचित समस्त कर्मबन्धन समूल नष्ट नहीं होता, तब तक परमात्म अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। पूर्व संचित कर्म-शक्ति युक्त परमाणुओं में से केवल वे कर्म परमाणु—जिनके उदय (कार्य में परिणत होने) का अवसर आ जाता है—कार्यान्वित होकर, अपना फल व प्रभाव दिखाकर, प्रति क्षण आत्मा के सम्बन्ध से पृथक् होते रहते हैं। शेष कर्म परमाणुओं

का समूह, सूक्ष्म कार्माण शरीर के रूप में, पूर्ववत संचित रहता है। यदि वे कर्म परमाणु, अपनी निश्चित अवधि के अनुसार फल देकर, आत्मा के सम्बन्ध से धीरे-धीरे पृथक् व क्षीण होते रहें, तो इन समस्त पूर्व संचित कर्मों के क्षय अर्थात् कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होने के लिये युग चाहियें। इसके लिये मुमुक्षु जीव को अनेक योनियां धारण तथा अक्षुण्ण, अथक प्रयत्न करते रहना होगा। यदि इन आगामी योनियों में वह अपनी मनोभावना शुद्ध एवं चारित्र निर्मल न रख सका, तो फिर नवीन कर्मबन्धन प्रारम्भ हो जावेगा। नवीन कर्मबन्धन के प्रारम्भ हो जाने से भविष्य में कर्मबन्धन से मुक्त हो जाना अत्यन्त दुष्कर हो जावेगा। इस लिये ऐसा उपाय सोचना होगा कि जिसको प्रयोग में लाने से पूर्व संचित कर्म शक्ति, अपनी निश्चित अवधि से पूर्व ही, कार्य में परिणत होकर तथा अपना प्रभाव (फल) दिखाकर या विना दिखलाये ही नष्ट हो सके। ऐसा करने पर पूर्व संचित कर्म, अपनी अवधि से पहिले ही, आत्मा के सम्बन्ध से पृथक् हो जावेंगे एवं मुमुक्षु जीव, सम्पूर्ण कर्मबन्धन को अल्प काल में ही काटकर, शुद्ध परमात्म अवस्था प्राप्त कर सकेगा।

उपरोक्त कार्य सिद्धि का उपाय केवल एक है, वह है तपस्या ! तपस्या के द्वारा साधु क्षुधा, तृषा, शीत, उष्णता, कठोर भूमि पर शय्या आदि के कष्ट व आपत्तियों को स्वेच्छापूर्वक आह्वानन करता है, उन्हें हर्ष पूर्वक, शान्ति के साथ, विना मन को विचलित व मलिन किये सहन करता है। इन आमंत्रित व आह्वानन किये हुए कष्टों का सहन करना उन कर्मों का— जो प्रतिदिन साधारण रूप से अपनी अवधि के अनुसार कार्यरूप में परिणत होते व फल देते हैं—फल नहीं हो सकता। स्वेच्छापूर्वक आह्वानन करके लगातार कष्ट सहन करने से, पूर्व संचित कर्मों में से कुछ कर्म, अपने कार्यान्वित होने की अवधि से पहिले ही, कार्य रूप में परिणत हो जाते हैं। कार्यान्वित हो जाने से, उनकी कर्मशक्ति नष्ट हो जाती है एवं उनका (कर्मों) सम्बन्ध आत्मा व सूक्ष्म कार्माण शरीर से पृथक् हो

जाता है। स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहन करना ही इन कर्मों का फल होता है। इस प्रकार तपस्या के द्वारा स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहन करने से, पूर्व संचित कर्मशक्ति का क्षय किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त तपस्या से एक और भी लाभ है। जिस प्रकार अग्नि में तपाने से स्वर्ण शुद्ध एवं कान्तिमान हो जाता है, उसी प्रकार तपस्या से आत्मा शुद्ध एवं आत्मिक शक्ति से स्फुरित हो जाता है, इन्द्रियों पर संयम प्राप्त हो जाता है, वासनायें नष्ट हो जाती हैं, शरीर से ममता भाव छूट जाता है, आत्मा उन्नत, स्फटिक मणि के समान उज्ज्वल व निर्मल हो जाता है, ज्ञानशक्ति अधिक विकसित एवं आत्मस्वरूप में स्थिरता प्राप्त हो जाती है, शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप की झलक आने लगती है। इस तपस्या को दो मुख्य भेदों में विभक्त किया जा सकता है :—

(क) वहिरंग तप—इसमें अनेक प्रकार के शारीरिक कष्टों का स्वेच्छा से आह्वानन किया जाता है एवं इनको शान्ति व हर्षपूर्वक, मन को विना क्षुव्ध व विचलित किये, सहन किया जाता है। इस शारीरिक कष्ट के सहन करने से, पूर्व संचित कर्मों का क्षय वड़े वेग के साथ होता है एवं इन कष्टों के निश्चल मन व शान्ति के साथ सहन करने से, शरीर एवं इन्द्रिय वासना पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता है। इन नियंत्रित कष्टों को निम्न-लिखित ६ भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

१. अनशन—उपवास करना। साधु दिन में केवल १ वार भोजन करते व जल पीते हैं। कभी-कभी उपवास रखते हैं। साधु का एक उपवास पहिले दिन के मध्याह्न से तीसरे दिन के मध्याह्न तक अर्थात् ४८ घंटे का होता है। उपवास में न आहार, न जल ग्रहण करते हैं। उपवास कभी एक दिन का कभी लगातार कई-कई दिन तक के होते हैं। क्षुधा व तृषा के कारण, साधु विह्वल एवं दुखित नहीं होते, न चित्त को विचलित होने देते हैं। वे अहिंसा आदि पंच महाव्रत एवं देवोपासना आदि षट आवश्यक नियमों का पालन भलीभांति करते रहते हैं।—

२. अवमोदर्य—प्राय: देखा जाता है कि मनुष्य के लिये किसी भोज्य पदार्थ का सेवन न करना सुगम होता है परन्तु भोज्य पदार्थ का खाना प्रारम्भ करके, विना उदर भरे एवं इच्छा पूर्त्ति किये, मध्य ही में छोड़ देना कठिन होता है। साधु इस इच्छा पर नियंत्रण कर लेते हैं। जब वे भोजन करते हैं, तो उदर की पूर्ण पूर्त्ति एवं इच्छा की पूरी तृप्ति कदापि नहीं करते हैं; सदा उदर पूर्त्ति से कम भोजन करते हैं।

३. रसपरित्याग—रसनेन्द्रिय पर संयम रखने के लिये प्राय: दूध, दही, घृत, मिष्ठ, लवण एवं तेल आदि रसों में से कुछ रसों का त्याग करते रहते हैं। किसी दिन विना नमक के भोजन करते हैं, कभी मीठे रस को त्याग देते हैं। नीरस भोजन ग्रहण से स्वादु रस में प्रीति नहीं रहती है। इस प्रकार रसना इन्द्रिय पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं।

४. व्रत परिसंख्यान—साधु भोजन के सम्बन्ध में कभी-कभी ऐसे नियम बना लेते हैं कि यदि अमुक प्रकार का भोजन आज मिलेगा, तो करेंगे अन्यथा नहीं। नगर व ग्राम में भोजन के लिये जाते हैं, परन्तु अपने मनोगत नियम की सूचना किसी व्यक्ति को नहीं देते। यदि उनके नियम अनुसार, भोजन मिल गया, तो ग्रहण कर लेते हैं, अन्यथा भोजन के विना ही वापिस लौट आते हैं।

५. विविक्त शय्यासन—साधु किसी प्रकार की सेज, विछौना, कम्बल, चटाई आदि वस्तु का प्रयोग नहीं करते हैं। एकान्त स्थान में भूमिपर विना किसी वस्त्र, चटाई या कुशा के विछाये ही शयन करते हैं। कठोर, कंकरीली, भूमि के चुभने आदि के कष्टों को शान्तिपूर्वक सहन करते हैं।

६. कायक्लेश—उपरोक्त पंच प्रकार तप के अतिरिक्त साधु जन अन्य कष्टों को भी स्वेच्छा से आमंत्रित एवं हर्षपूर्वक सहन करते हैं।

(ख) अंतरंग तप—इसके द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप चारित्र में उन्नति एवं ज्ञान में वृद्धि की जाती है। काम, क्रोध आदि प्रवृत्ति या प्रमाद

वश से जो त्रुटि साधु से हुई हो, उसे गुरु के समक्ष रखे। गुरु जो प्रायश्चित निश्चित करें, उसे हर्षपूर्वक शिरोधार्य करे। ऐसा करने से उसका चरित्र दिन पर दिन उन्नत एवं शुद्ध होता जावेगा। जो साधु अपने से ज्ञान व चरित्र में अधिक उन्नत हैं, उनकी संगति में रहे तथा उनके उपदेश को आदरपूर्वक हृदय में धारण करें एवं कार्यान्वित करे। यदि किसी साधु के शरीर में कोई रोग उत्पन्न हो जावे अथवा किसी अन्य प्रकार की पीड़ा हो जावे तो उसकी सेवा सुश्रूषा करे। ज्ञानवृद्धि के लिये आवश्यक है कि उपयुक्त ग्रंथों का निरन्तर अध्ययन एवं मनन करे। विद्वान साधु से पढ़े, अल्पज्ञानी साधुओं को पढ़ावें। चारित्र को अधिक शुद्ध व निर्मल करने के हेतु आवश्यक है कि स्त्री, पुत्र, शिष्य आदि मनुष्य, पशु, गृह, भोजन, वस्त्र आदि पदार्थों से ममता भाव को सर्वथा त्याग दे एवं काम, क्रोध आदि अशुभ प्रवृत्तियां जो आत्मोन्नति में बाधक हैं, छोड़ दे। एकान्त स्थान में बैठ कर, आत्म स्वरूप, कर्मबन्धन, संसार की दशा आदि पर विचार करे तथा पद्मासन आदि उचित आसन लगाकर, मन को इन्द्रिय विषय से हटा कर, एकाग्र चित्त होकर, आत्मा के शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप में ध्यान एवं समाधि लगावे। इस प्रकार अंतरंग तप द्वारा साधु की ज्ञानशक्ति अधिक विकसित एवं चरित्र अधिक उन्नत होता है। बहिरंग तप द्वारा साधु को अपने शरीर एवं इन्द्रियवासना पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता है तथा उसके द्वारा पूर्व संचित कर्मबन्धन का नाश हो जाता है।

६. परोपकार—साधु के पास किसी प्रकार की भौतिक सम्पत्ति नहीं होती और न ही वे गृहस्थ सदृश नगर या ग्राम में रहते हैं। इसलिये उस प्रकार का सेवाधर्म जो गृहस्थ के लिये उपयुक्त है, साधु के लिये कदापि उचित नहीं हो सकता। साधु की परिस्थिति भिन्न होने के कारण, उसके उपयुक्त सेवाधर्म के स्वरूप में अन्तर हो जाता है। साधु की स्थिति ध्यान में रखते हुए, यह उचित जान पड़ता है कि वे संसार का उपकार अपने ज्ञान एवं चारित्र द्वारा करें। जो मनुष्य उनके पास आवें अथवा

जिनका संसर्ग उनसे होवे, उनको ऐसा उपदेश दें, जिससे उनकी आध्यात्मिक, नैतिक आदि उन्नति हो एवं उनकी आत्मिक शक्तियों का विकास हो। अपने उपदेश व चरित्र बल से, श्रोतागण को सच्चरित्र होने के लिये प्रेरित व उत्साहित करें। उपस्थित जनता की स्थिति समझ कर, उसे जुआ खेलने, व्यभिचार में लगने, मांस भक्षण करने, शिकार खेलने, मदिरा पीने, चोरी आदि व्यसन को त्याग देने के लिये उत्साहित करें तथा उसमें जो रीति रिवाज सच्चरित्रता या स्वास्थ्य विरुद्ध अथवा अनुपयोगी हों, उनके छोड़ने के लिये प्रेरणा करें। उनको पूर्णतया या कुछ अंशों में, पंच व्रत पालने, षट नियमों के धारण करने, समाज व राष्ट्र के हितवर्धक कार्य करने के लिये अग्रसर करें। यदि बहुत से साधु एक साथ संघ के रूप में रहते हों, तो विद्वान मुनि का कर्तव्य है कि अन्य अल्प ज्ञानी साधुओं को ज्ञान की शिक्षा दे, उनकी अव्यक्त ज्ञानशक्ति के विकसित एवं चारित्र के उन्नत होने में सहायता करे। यदि संघ में कोई साधु अस्वस्थ हो जावे, तो अन्य साधुओं के लिये उचित है कि उसकी सेवा करें।

इस प्रकार पंच महाव्रत व षट आवश्यक नियमों का निरन्तर यत्न-पूर्वक पालन करता हुआ साधु अपने आदर्श की ओर अग्रसर होता है। पूर्व संचित कर्मबन्धन को धीरे-धीरे परन्तु दृढ़ता व साहसपूर्वक काटता एवं नवीन कर्मबन्धन से अपनी रक्षा करता हुआ साधु अपनी आत्मा को दिन प्रतिदिन अधिकाधिक निर्मल एवं शुद्ध करता जाता है। अन्त में एक ऐसा समय आता है, जब समस्त ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय एवं अन्तराय घाति कर्मों को नष्ट करके, वह अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उस जीवन्मुक्त (अर्हत्) परमात्मा का ज्ञानसूर्य—जो अबतक कर्म रूपी मेघों से आच्छादित व विकृत हो रहा था—पूर्ण ज्ञान प्रकाश से प्रज्वलित हो उठता है। उनके ज्ञान प्रकाश में संसार के समस्त पदार्थ एवं उनके समस्त गुण व अवस्थायें झलकने लगती हैं। ज्ञानप्रकाश के साथ-साथ वह जीवन्मुक्त आत्मा दिव्य, अलौकिक, अनुपम आनन्द

में मग्न हो जाता है। इस अनुपम आनन्द अमृतरस का प्रतिक्षण पान करता हुआ, उसमें लीन रहता है। संसार के लाभार्थ, उस जीवन्मुक्त परमात्मा की दिव्यवाणी का संचार होता है, जिसके श्रवण से अनेक प्राणियों को ज्ञान प्राप्त होता है एवं वे आत्मोन्नति की ओर अग्रसर होते हैं।

उपरोक्त जीवन्मुक्त अवस्था में रहने एवं संसार का कल्याण करने के कुछ समय पश्चात्, उसके शरीर सम्बन्धी नाम, आयु, गोत्र व वेदनीय अघाति कर्मों का भी नाश हो जाता है। आयु कर्म क्षीण हो जाने पर, उसकी शुद्ध आत्मा, भौतिक शरीर को तज कर कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होकर, लोक के शिखर पर विराजमान हो जाती है। जहां वह शुद्ध, सिद्ध परमात्मा सदा के लिये अनुपम दिव्य आनन्द में मग्न रहता है एवं उसकी दिव्य ज्ञान ज्योति में संसार के समस्त पदार्थ, अपने अनन्त गुण व अवस्थायें सहित, आलोकित होते रहते हैं, कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाने पर, कोई शक्ति ऐसी शेष नहीं रहती, जो उस परमात्मा को फिर नवीन कर्मबन्धन में डाल सके, उसके शुद्ध चिदानन्द स्वरूप में विकार उत्पन्न कर सके या उसकी दिव्य आत्मिक शक्तियों को आच्छादित कर सके। इसलिये वह परमात्मा अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप में शास्वत मग्न एवं विराजमान रहता है।

तृतीय भाग

समन्वय या एकीकरण

समन्वय या एकीकरण

१—साधारण विवेचन

आत्मस्वरूप निर्णय कर लेने एवं उसकी प्राप्ति के उपाय जान लेने पर, यह प्रश्न स्वभावतः ही मन में उठता है कि इस पृथ्वी पर अनेक महात्मा व विद्वान हो गये हैं, जिनके हृदय में जीव के वास्तविक स्वरूप, सुख दुख, संसार भ्रमण, जन्म मरण एवं जगत में होने वाली अनेक घटनाओं का रहस्य जानने की उत्कंठा उत्पन्न हुई है। इन प्रश्नों का समाधान एवं निर्णय करने में, उन्होंने अपने जीवन व्यतीत किये हैं। अपने अनुभव, अन्वीक्षण एवं अनुसन्धान से जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं, उनकी नींव पर अनेक मत व सम्प्रदाय मानव समाज में प्रचलित हो गये हैं। इन सिद्धान्तों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बहुत सी बातें इन धर्मों में एकसी हैं परन्तु कुछ प्रश्नों के सम्बन्ध में इनका मत भिन्न-भिन्न है और कहीं-कहीं परस्पर विरोध भी है। इन सिद्धान्तों के पढ़ने से साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या, विद्वान भी उलझन में पड़ जाते हैं और किसी एक निर्णय पर पहुंच नहीं पाते हैं। यह जानना आवश्यक प्रतीत होता है कि एक ही विषय के निश्चय करने में, इतनी विभिन्नता एवं विरोध का कारण क्या है? यदि इस विभिन्नता एवं विरोध का कारण ज्ञात हो जावे, तो भिन्न-भिन्न दर्शन एवं शास्त्र के यथार्थ समझने की कुंजी हाथ लग जावेगी।

इस विभिन्नता एवं विरोध के निम्नलिखित दो ही कारण हो सकते हैं :—

(१) इन विद्वानों ने किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के अर्थ, सोच समझ कर विरोधी सिद्धान्त स्थिर किये हैं। अथवा

(२) इन महापुरुषों को देश, समाज या समय की परिस्थिति, अपनी मनोवृत्ति या अन्य किसी कारण से इन सिद्धान्तों के स्थिर करने में भ्रम हुआ है, जिसके कारण इनमें इतनी विभिन्नता एवं विरोध दृष्टि-गोचर होता है।

यह बात तो समझ में नहीं आ सकती कि इन महापुरुषों ने किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के अर्थ, असत्य सिद्धान्तों की रचना एवं उनका प्रचार किया है। क्योंकि इन महात्माओं का—जिन्होंने संसार से विरक्त होकर, गृहस्थ त्याग कर, अनेक कष्टों को सहन कर, मन वचन एवं शरीर को नियंत्रण में रख कर, आत्म स्वरूप आदि अनेक समस्याओं का समाधान किया है—मिथ्या सिद्धान्तों के स्थिर व प्रचार करने में कोई उद्देश्य प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त, प्राय: प्रत्येक मत व सम्प्रदाय में योग्य विद्वान पाये जाते हैं। यदि उन मतों के सिद्धान्त वुद्धि विरुद्ध एवं प्रकट रूप से मिथ्या होते, तो उन मतों के अनुयायी विद्वान—जिनका कोई विशेष उद्देश्य उन सिद्धान्तों में विश्वास करने का नहीं है—क्यों उनको सत्य मान कर, उन पर श्रद्धा करते एवं उनके अनुसार आचरण करते। जब कभी भिन्न-भिन्न दर्शन या भिन्न-भिन्न धर्मों के ग्रंथों का अध्ययन एवं उनकी युक्तियों पर विचार किया जाता है, तो ये युक्तियां बहुत कुछ सत्य प्रतीत होती हैं। परन्तु जब इनके आधार पर, भिन्न-भिन्न सिद्धान्त एवं दर्शन स्थिर किये जाते हैं, तो इनमें बड़ी विभिन्नता एवं विरोध दृष्टिगोचर होता है, जिसको देख कर वुद्धि चक्कर में पड़ जाती है। कोई सिद्धान्त—जो तर्क कसौटी पर खरा न उतरता हो—अधिक दिन तक टिक नहीं सकता। इसलिये यही मानना पड़ता है कि इन सिद्धान्तों के रचयिता महापुरुषों को किसी कारण से अवश्य भ्रम हुआ है, जिससे उन्होंने विभिन्न एवं विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

उदाहरण के लिये बौद्ध व वेदान्तदर्शनों को लीजिये। बौद्धदर्शन कहता है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है, किसी वस्तु की जो दशा आज

है, वह कल नहीं रहती; मनुष्य के शरीर में भी परिवर्तन होता रहता है, यहां तक कि कुछ काल[1] में शरीर के समस्त अवयवों का प्रत्येक परमाणु बदल जाता है। प्रकृति में भी इसी प्रकार परिवर्तन होता रहता है, जैसा कि ऋतु परिवर्तन, दिन के छोटे बड़े आदि से स्पष्ट है। इस परिवर्तन को देख कर, बौद्धदर्शन ने प्रत्येक वस्तु को क्षणिक माना है। इसी क्षणिक-वाद के अनुसार, उसका कहना है कि मनुष्य के अन्तर्गत जो जीव है, वह भी स्थिर नहीं रहता है, उसमें भी परिवर्तन होता रहता है, जो जीव आज है, वह कल नहीं रहता, कल दूसरा जीव होगा। बौद्ध-दर्शन के इस क्षणिक वाद के बिल्कुल विपरीत, वेदान्त दर्शन का नित्य वाद है।

वेदान्त ब्रह्म को सदा व नित्य मानता है, मनुष्य की आत्मा भी ब्रह्म स्वरूप सत् व नित्य है। उसका नाश कभी नहीं होता, न उसमें कोई परिवर्तन होता है। जो परिवर्तन दिखलाई देते हैं, वे सब भ्रम हैं, उनका कोई अस्तित्व नहीं। स्वर्ण[2] की कुंडल, हार, माला, कंकण, मुद्रा आदि अनेक अवस्थायें होने पर भी, स्वर्ण के स्वरूप स्वर्णत्व[2] में न कोई ह्रास होता है और न वृद्धि। यह स्वर्णत्व स्वरूप सदा स्थिर रहता है। ये कुंडल, हार आदि अवस्थायें, जो दृष्टिगोचर होती हैं, वे केवल भ्रम हैं, इनमें कोई सार नहीं। वेदान्त दर्शन कहता है कि स्वर्ण के स्वर्णत्व की भांति, मनुष्य की आत्मा शुद्ध चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, वह सदैव शुद्ध ब्रह्म स्वरूप में स्थिर रहता है। प्राणी में जो

---

[1] वैद्यक दृष्टि से शरीर का परिवर्तन सात वर्ष में पूर्ण हो जाता है। शरीर के पहिले समस्त परमाणु धीरे-धीरे निकल जाते हैं और उनका स्थान नवीन परमाणु धारण कर लेते हैं।

[2] दृष्टान्त के तौर पर स्वर्ण को मूलतत्व लिखा है, यद्यपि नये आविष्कारों से उसके मूलतत्व होने में सन्देह है।

काम; क्रोध आदि अनेक भावनायें, या प्राणी की मनुष्य, पशु आदि अनेक अवस्थायें जो दृष्टिगोचर होती हैं, ये सब मिथ्या एवं माया हैं। इस प्रकार वेदान्त दर्शन का नित्यवाद बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद के नितान्त विपरीत है। जब दोनों दर्शनों की युक्तियों पर विचार किया जाता है, तो दोनों की युक्तियां सत्य प्रतीत होती हैं एवं इन दोनों के परस्पर विरोधी, क्षणिक व नित्यवादी सिद्धान्त अपनी-अपनी युक्तियों के अनुसार ठीक-ठीक जंचते हैं। ऐसी दशा में यह जानने की उत्कंठा स्वमेव होती है कि इन सिद्धान्तों के परस्पर विरोधी होने में क्या रहस्य है!

इन दर्शनों के नित्य व अनित्य (क्षणिक)वादों के दृष्टान्त एवं युक्तियों की सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि ये दर्शन एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखते हैं। भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखने के कारण ही, इनकी युक्तियों के परिणाम एवं उनके आधार पर निश्चित किये गये सिद्धान्त भी भिन्न-भिन्न हैं। स्वर्ण एक सरल शुद्ध मूल तत्त्व है, जिसकी अवस्था में सदैव परिवर्तन होता रहता है। कभी वह मल, अन्य धातु या पदार्थ से मिल कर एक मिश्रित (complex) या संयुक्त (Compound) पदार्थ बन जाता है। कभी हार, नेकलेस, कंकण आदि सुन्दर आभूषण का रूप धारण कर लेता है। इन समस्त परिवर्तनों के होने पर भी, वह स्वर्ण पदार्थ अपने वास्तविक स्वरूप स्वर्णत्व को कभी नहीं छोड़ता। न कभी उस द्रव्य का कोई स्वर्ण परमाणु चांदी, लोहा, आदि अन्य धातु या वस्तु के परमाणु में परिणत होता है। जब कभी स्वर्ण पदार्थ को, उसके वास्तविक स्वरूप स्वर्णत्व की दृष्टि से, देखा जाता है, तो यही कहना पड़ता है कि स्वर्ण एक नित्य पदार्थ है, उसका नाश कभी नहीं होता है, न उसमें कोई परिवर्तन होता है। वह सदैव एकसा रहता है, जो परिवर्तन उसकी अवस्थाओं में देखा जाता है, वह केवल भ्रम है, उसमें सार कुछ नहीं। यह वर्णन वेदान्तदर्शन के नित्यवाद के

सदृश एवं बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद के विरुद्ध है। परन्तु जब कभी स्वर्ण के किसी पदार्थ को, उसकी बाह्य अवस्था की दृष्टि से, देखा जाता है, तो कहना पड़ता है कि स्वर्ण अनित्य है, उसमें सदैव परिवर्तन होता रहता है, कभी वह मुद्रा, हार, कंकण आदि आभूषण के रूप में दिखलाई देता है, कभी तेजाब (Acid) व अन्य पदार्थ से संयुक्त होकर विचित्र रसायनिक पदार्थ का रूप धारण कर लेता है। उसकी दशा कभी स्थिर नहीं रहती। यह कथन बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद के अनुकूल एवं वेदान्त-दर्शन के नित्यवाद के प्रतिकूल है।

इसी प्रकार जब मनुष्य की अन्तर्स्थित आत्मा को, उसके वास्तविक स्वरूप की दृष्टि से, देखा जाता है, तो कहना पड़ता है कि आत्मा नित्य, शुद्ध, ज्ञान एवं आनन्दमय है, क्योंकि अनेक योनियों के धारण करने, काम, क्रोध आदि अनेक भावना व प्रवृत्तियों के होने पर भी, आत्मा के वास्तविक स्वरूप का विनाश कभी नहीं होता। कर्मबन्धन के कारण उसके वास्तविक स्वरूप के आच्छादित एवं विकृत हो जाने पर भी, उसका वास्तविक ज्ञान आनन्द स्वरूप, शक्ति रूप से, उसी दशा में विद्यमान रहता है, उसके वास्तविक स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। वास्तविक स्वरूप की दृष्टि से, आत्मा का उपरोक्त वर्णन वेदान्तदर्शन द्वारा प्रतिपादित आत्म स्वरूप के सदृश है।

परन्तु जब मनुष्य अन्तर्स्थित आत्मा का वर्णन, उसकी बाह्य अवस्था की दृष्टि से, किया जाता है, तो कहना पड़ता है कि आत्मा में सदैव परिवर्तन होता रहता है, वह कभी एकसा नहीं रहता, आत्मा अनित्य एवं क्षणिक है। यह देखा जाता है कि आत्मा की अवस्था में परिवर्तन सदैव होता रहता है, आत्मा एकसी अवस्था में कभी स्थिर नहीं रहता, उसकी रागद्वेष आदि भावनाओं में भी सदैव परिवर्तन होता रहता है, कभी वह सुखी होता है, कभी दुखी, कभी क्रोध से उसके अंग कांपने लगते हैं, कभी दया से द्रवित नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती है, इस भांति अनेक

प्रकार की भावनायें उसके हृदय में होती रहती हैं। भावना के सदृश मनुष्य की ज्ञानशक्ति में भी परिवर्तन होता रहता है, अनुकूल परिस्थिति में ज्ञान का विकास और प्रतिकूल परिस्थिति में ज्ञान का ह्रास होता है। उसके शरीर, रूप, रंग, सामर्थ्य, वनावट आदि में भी सदैव परिवर्तन होता रहता है। मनुष्य, वाल्य अवस्था से युवा, युवा से वृद्ध दशा को प्राप्त होता है। जीव कभी मनुष्य, कभी पशु, कभी किसी अन्य योनि में जन्म लेता है। इस प्रकार उसकी समस्त अवस्थाओं में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। वाह्य अवस्था की दृष्टि से, आत्मा बौद्धदर्शन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुकूल अनित्य सिद्ध होता है।

इस विवेचन से, इस परिणाम पर पहुंचा जाता है कि भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने आत्मा एवं अन्य पदार्थों का वर्णन भिन्न-भिन्न दृष्टियों से किया है। इन भिन्न-भिन्न, दृष्टिकोणों के कारण ही, उनका वर्णन भिन्न-भिन्न है। इन विभिन्न वर्णनों के आधार पर ही, उनके विभिन्न सिद्धान्तों की रचना हुई है। एक भूल साधारणतया लगभग सब ही दार्शनिकों में पाई जाती है। किसी दार्शनिक ने आत्मा के किसी एक गुण या अवस्था का वर्णन किसी एक दृष्टि से किया है और उस (आत्मा) के अन्य समस्त गुण एवं अवस्थाओं की उपेक्षा की है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि आत्मा के उस गुण व अवस्था के वर्णन में भी कुछ अतिशयोक्ति हो गई है। दूसरे दार्शनिक ने उस आत्मा के किसी दूसरे ही गुण या अवस्था का वर्णन किसी एक दृष्टि से किया है और उसने अपने वर्णित गुण के अतिरिक्त अन्य गुण, अवस्था एवं दृष्टियों की उपेक्षा की है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आत्मा एवं अन्य पदार्थ के सम्बन्ध में, इन दार्शनिकों का वर्णन अधूरा व अपूर्ण है तथा आपस में भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्पर विरोधी भी हैं। आत्मा या किसी पदार्थ का पूरा वर्णन तो उसी समय हो सकेगा, जब उसके समस्त गुण एवं अवस्थाओं का पूर्ण विवरण भिन्न-भिन्न दृष्टियों से किया जावे। इसके लिये आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न

सिद्धान्तों के प्रतिपादन में दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण को समझा जावे एवं उन समस्त सिद्धान्तों का समन्वय व एकीकरण करके वर्णन किया जावे। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के एकीकरण कर लेने पर ही, उस वस्तु का वर्णन पूर्ण हो सकेगा।

२—स्याद्वाद या अनेकान्तवाद

भारत के दार्शनिकों में से जैनदर्शन ने वस्तु, विशेष कर आत्मा, के भिन्न-भिन्न गुण एवं अवस्था का भिन्न-भिन्न दृष्टि से वर्णन किये जाने एवं उनके समन्वय को वड़ा महत्व दिया है। इसलिए जैनदर्शन के उपरोक्त सिद्धान्त का संक्षिप्त विवेचन करना, यहां अनुचित न होगा।

जैनदर्शन कहता है कि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक[1] है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण व अवस्थायें होती हैं। उस वस्तु का पूर्ण वर्णन तो उसी समय हो सकता है, जव उसके समस्त गुण व अवस्थाओं का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से वर्णन किया जावे। यह असम्भव है कि मनुष्य किसी वस्तु के समस्त गुण एवं अवस्थाओं का वर्णन एकदम, एक साथ कर सके। उसको विवश होकर, उस वस्तु के गुण एवं अवस्थाओं का वर्णन क्रम से करना पड़ता है। जो वर्णन किसी वस्तु का किसी समय किया जाता है, वह वर्णन उस वस्तु के किसी गुण या पर्याय (अवस्था) का किसी एक दृष्टि से होता है। उस वस्तु के उसी गुण व पर्याय का, अन्य दृष्टि से या उस वस्तु के किसी अन्य गुण या पदार्थ का उसी दृष्टि से कथन विल्कुल ही अन्य प्रकार का होता है। किसी वस्तु के वर्णन को उसका सम्पूर्ण वर्णन समझ लेना भूल है। वस्तु के किसी गुण या पर्याय का, किसी एक

---

[1] अनेकान्तात्मक=अनेक+अन्त+आत्मक। संस्कृत भाषा में 'अन्त' शव्द के कितने ही अर्थ होते हैं, यहां पर 'अन्त' शव्द से 'धर्म' अर्थ ग्रहण किया गया है। इसलिये उपरोक्त अनेकान्तात्मक शव्द का अर्थ 'अनेक धर्म वाला' अथवा अनेक गुण वाला होता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण होते हैं।

दृष्टि से, वर्णन किये जाने को जैनदर्शन स्याद्वाद[1] के नाम से व्यौवृत करता है। जैनदर्शन ने इस स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद को अत्यन्त ऊँचा पद दिया है, जैसा कि श्री अमृतचन्द्र आचार्य विरचित पुरुषार्थ सिद्धचुपाय के निम्नलिखित श्लोक से ज्ञात होता है :—

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यंधसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

अर्थात् (निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्) जन्मान्ध पुरुषों के हस्ति सम्वन्धी भ्रम को दूर करने वाले, (सकलनयविलासितानां) पदार्थों के समस्त दृष्टिकोणों को प्रकाशित करने वाले, (विरोधमथनं) वस्तु वर्णन सम्वन्धी विरोधों को हटाने वाले, (परमागमस्य जीवं) यथार्थ सिद्धान्त के जीवन्भूत (अनेकान्तम्) अनेक धर्म व दृष्टिकोणों को कहने वाले स्याद्वाद को (नमामि) मैं अमृतचन्द्र सूरि नमस्कार करता हूं।

इस श्लोक में आचार्य महोदय ने जन्मान्ध पुरुषों के, हाथी नामक

---

[1] स्याद्वाद—स्याद् (कथंचित अर्थात् किसी एक दृष्टि से)+वाद (कथन)। इस स्याद्वाद शब्द के कथन से यह वोध होता है कि विवक्षित वस्तु का वर्णन, उसके किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि से, है, उसका वर्णन, अन्य गुण या अन्य दृष्टि की अपेक्षा, अन्य प्रकार होता है। कुछ विद्वानों ने 'स्याद्' शब्द का अर्थ शायद समझा है, जिसके कारण उन्होंने स्याद्वाद का अर्थ यह लगाया है कि शायद ऐसा हो, शायद वैसा हो। उन्होंने इसको सन्देहात्मक दशा का वोधात्मक समझा है। परन्तु जैन विद्वान इसका अर्थ ऐसा नहीं लगाते हैं। वे तो स्याद् शब्द से कथंचित का अर्थ लेते हैं और स्याद्वाद शब्द से यह भाव लेते हैं कि विविक्षित वस्तु के किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि से वर्णन है। उस गुण का उस दृष्टि से कथन विल्कुल निश्चयात्मक है, उसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

आख्यायिका का उद्धरण देकर, अपना अनेकान्त सम्बन्धी सिद्धान्त पाठकों को अवगत कराया है। कथा इस प्रकार है :—

किसी ग्राम में जन्म से अन्धे कितने ही मनुष्य रहते थे। उस ग्राम में एक हाथी आया। हाथी को पहिचानने के लिये, ये नेत्रहीन मनुष्य उसके अंगों का स्पर्श करने लगे। किसी ने उस हाथी के पैर, किसी ने दांत, किसी ने उसका धड़, किसी ने कर्ण, किसी ने सूंड, किसी ने पूंछ का स्पर्शन किया। उस हस्ति के चले जाने पर, ये जन्म से अन्धे मनुष्य अपने-अपने हस्ति सम्बन्धी अनुभव कहने लगे। वह मनुष्य—जिसने हस्ति के पाद का स्पर्शन किया था—कहने लगा कि हाथी स्तम्भ के सदृश होता है। कर्ण का स्पर्श करने वाला मनुष्य कहता था कि हस्ति सूप (पंखे) के समान होता है। इसी प्रकार धड़ का स्पर्शन करने वाला मनुष्य, हाथी को मृत्तिका के स्कंध (ढेर) सदृश, सूंड का स्पर्शन करने वाला मनुष्य, हाथी को मूसल के तुल्य, पूंछ का स्पर्शन करने वाला मनुष्य, हाथी को लाठी के समान, दांत का स्पर्शन करने वाला मनुष्य, हाथी को डंडे के सदृश कहता था। ये जन्मान्ध मनुष्य परस्पर वादविवाद एवं झगड़ा करने लगे। प्रत्येक मनुष्य अपने कथन को सत्य तथा दूसरे मनुष्य के वर्णन को असत्य बतलाता था। कुछ देर तक वादविवाद होता रहा। वे किसी निर्णय पर न पहुंच सके। उनके वादविवाद को सुनकर एक नेत्रवान पथिक—जिसने हाथी को सर्वांग देखा था—उनके पास आया और कहने लगा कि तुम सब मनुष्य व्यर्थ ही झगड़ा करते हो, तुम्हारा सब का कथन सत्य है, केवल एक ही भूल है। यह कहना कि हाथी स्तम्भ के ही सदृश होता है या हाथी सूप, स्कंध, लाठी, मूसल या डंडे के ही तुल्य होता है मिथ्या व असत्य है। तुम सब अपने-अपने कथन को मिलाकर कहो। सबका मिला हुआ कथन हाथी का सत्य वर्णन होगा। हाथी स्तम्भ के सदृश भी होता है, सूप के समान भी और इसी प्रकार मूसल, लाठी, डंडा व स्कंध के समान भी होता है।

तुम सब ने हस्ति के भिन्न-भिन्न अंगों का स्पर्शन किया है, इसलिये तुम्हारे कथन में परस्पर विरोध है। सब अंगों के कथन मिलाने से हस्ति का पूर्ण वर्णन हो सकेगा।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि जिस प्रकार नेत्रवान पथिक ने जन्म से अन्धे मनुष्यों के हस्ति सम्बन्धी विरोध को मिटा दिया था, इसी प्रकार यह स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) मनुष्यों के पारस्परिक विरोध का दूर करने वाला है। वस्तु के समस्त गुण एवं अवस्थाओं को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से दर्शाने वाला है, इसलिये यह स्याद्वाद यथार्थ ज्ञान का जीवन एवं प्राण है। स्याद्वाद का महत्व एवं उसकी अत्यन्त आवश्यकता दिखलाने के लिये, उसको नमस्कार किया है।

इस आख्यायिका में जो विरोध का कारण दर्शाया गया है, वही कारण भिन्न-भिन्न दर्शनों के परस्पर विरोध का है। प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक होती है, उसमें बहुत से गुण एवं अवस्थायें होती हैं और उनका वर्णन भी भिन्न-भिन्न पक्ष व दृष्टि से किया जाता है। कोई मनुष्य किसी वस्तु के किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि से वर्णन करता है, दूसरा मनुष्य उसी वस्तु के उसी गुण का किसी दूसरी दृष्टि से, तीसरा मनुष्य उस वस्तु के उसी गुण का तीसरी दृष्टि से, तथा अन्य मनुष्य उसी वस्तु के उसी गुण का, अन्य दृष्टियों से वर्णन करते हैं अथवा एक मनुष्य किसी विवक्षित वस्तु के एक गुण का वर्णन करता है, दूसरा मनुष्य उसी वस्तु के किसी दूसरे गुण का, तीसरा मनुष्य उसके किसी तीसरे गुण का और अन्य मनुष्य उस वस्तु के अन्य गुणों का वर्णन करते हैं। इस प्रकार एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न गुणों का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वर्णन अनेक प्रकार होता है। यदि उनमें से कोई मनुष्य यह कहे कि जो मैं कहता हूं, वही सत्य है, वही उस वस्तु का रूप है, अन्य प्रकार नहीं हो सकता, दूसरे मनुष्यों का कथन मिथ्या है। उसके इस कथन में उसकी भूल माननी होगी। उस वस्तु का यथार्थ वर्णन तो उस समय हो सकेगा कि जब उसके समस्त गुण व

अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न दृष्टि से कथित वर्णन को एक साथ मिला लिया जावे।

उदाहरणार्थ किसी स्त्री का वर्णन करना है। एक मनुष्य उसकी सुन्दरता, रूप, लावण्य, शरीर की सुडौलता का वर्णन करता है, दूसरा मनुष्य उसकी धन, सम्पत्ति, भूषण, आभूषण आदि ऐश्वर्य की सामग्रियों का, तीसरा व्यक्ति उसकी कुशाग्र एवं व्यवसायिक बुद्धि का, चौथा व्यक्ति उसकी दानशीलता का; अन्य व्यक्ति उसके स्वभाव आदि अन्य गुणों का वर्णन करता है। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति का कथन अपूर्ण एवं अधूरा है। उस स्त्री का पूर्ण वर्णन तो उस समय हो सकेगा कि जब सब व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न गुणों की कथनावली को एकत्र करके कहा जावे। यदि कोई मनुष्य यह कहे कि उस स्त्री के सम्बन्ध में, मैं जो कुछ कहता हूं, वही उस स्त्री का यथार्थ वर्णन है, उस स्त्री का वर्णन अन्य प्रकार नहीं हो सकता, न उस स्त्री में अन्य गुण हैं। इस कथन में उस व्यक्ति की भूल माननी होगी। उस स्त्री या किसी वस्तु के यथार्थ वर्णन की दो ही रीति हो सकती हैं, या तो उसके समस्त गुण एवं अवस्थाओं का वर्णन सर्व दृष्टियों से किया जावे या उसके कुछ विविक्षित गुणों का वर्णन कुछ दृष्टियों से करके यह कह दिया जावे कि इन दृष्टियों से वर्णित गुणों के अतिरिक्त उसमें अन्य गुण व अवस्थायें भी हैं, जिनका भिन्न भिन्न दृष्टियों की अपेक्षा अन्य प्रकार से कथन किया जा सकता है। इन दोनों रीतियों में से किसी एक रीति के धारण करने पर ही, पाठक एवं श्रोताओं को भ्रम नहीं होगा। अन्यथा वे उस वस्तु के कुछ गुणों का कुछ दृष्टियों की अपेक्षा कथन सुन लेने पर, यही धारणा बना लेंगे कि उसमें केवल वर्णित ही गुण हैं, इनके अतिरिक्त उसमें न अन्य गुण हैं और न वर्णित गुणों का कथन अन्य दृष्टियों की अपेक्षा अन्य प्रकार हो ही सकता है।

प्रत्येक वस्तु साधारणतया अनेकान्तात्मक (अनेक गुण व अवस्था वाली) होती है। मनुष्य के लिये यह बड़ा कठिन है कि उस वस्तु के

समस्त गुण एवं अवस्थाओं का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वर्णन करे। इसके अतिरिक्त, केवल उसी गुण या अवस्था का वर्णन उस दृष्टि से किया जाता है, जिस दृष्टि से जिस गुण के कथन करने की आवश्यकता, उस समय की परिस्थिति के अनुसार, प्रतीत होती है। अन्य अनावश्यक दृष्टि से, उस गुण या अन्य अनावश्यक गुणों के वर्णन करने की उस समय उपेक्षा की जाती है। ऐसी दशा में यह हृदय में धारण कर लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिये लाभदायक होगा कि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है और जो कथन किसी समय किया जाता है, वह स्याद्वाद रूप (किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि) से वर्णन है।

जैनदर्शन ने कथनशैली को मुख्यतया दो भागों में विभक्त किया है :—

(१) द्रव्यार्थिकनय—(द्रव्य+आर्थिक) पदार्थ के यथार्थ स्वरूप की (नय) दृष्टि से वर्णन करना। इस दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ का वर्णन, उसके वास्तविक स्वरूप की अपेक्षा से, किया जाता है। इस नय से पदार्थ नित्य ठहरता है। इस दृष्टि से आत्मा नित्य, शुद्ध, निर्विकार, ज्ञान एवं आनन्दमय निश्चित होता है। यह वर्णन वेदान्तदर्शन द्वारा प्रतिपादित आत्म स्वरूप सदृश है। इस द्रव्यार्थिक नय को सत्यार्थ, भूतार्थ या निश्चय नय के नाम से भी बोधित किया है।

(२) पर्यायार्थिक नय—(पर्याय+आर्थिक) बाह्य अवस्था की (नय) दृष्टि से वस्तु का वर्णन करना। इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। आत्मा भी अस्थिर, अनित्य एवं क्षणिक है क्योंकि उसकी बाह्य अवस्था में सदैव परिवर्तन होता रहता है। यह कथन बौद्ध-दर्शन द्वारा प्रतिपादित क्षणिकवाद के तुल्य है। इस पर्यायार्थिक नय को जैन दर्शन ने असत्यार्थ, अभूतार्थ या व्यवहार नय के नाम से भी पुकारा है।

जैनदर्शन ने कथनशैली को और भी कई प्रकार से विभक्त किया है, जिनका वर्णन जैन ग्रंथों के अध्ययन द्वारा जाना जा सकता है। यहां पर उनका उद्धरण करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

३—दर्शनों की विभिन्नता के कारण

अन्य वस्तुओं की भांति, आत्मा भी अनेकान्तात्मक है। उसमें ज्ञान आदि अनेक गुण व अवस्थायें हैं। किसी एक आचार्य ने उस आत्मा के किसी एक गुण या अवस्था का वर्णन किया है एवं अन्य गुण व अवस्थाओं की उपेक्षा की है। दूसरे आचार्य ने उसी आत्मा के किसी दूसरे ही गुण या अवस्था का कथन एवं अन्य समस्त गुण व अवस्थाओं की उपेक्षा की है। किसी आचार्य ने आत्मा के किसी एक गुण का वर्णन, एक दृष्टि से, किया है, दूसरे आचार्य ने आत्मा के उसी गुण का वर्णन, किसी दूसरी ही दृष्टि से, किया है। भिन्न-भिन्न गुण एवं अवस्था के भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वर्णन तथा अन्य गुण व अवस्था, एवं अन्य दृष्टियों की उपेक्षा करने के कारण ही, भिन्न-भिन्न दर्शनों में इतना अधिक अन्तर हो गया है। आत्मा की उपमा उस उपवन से दी जा सकती है, जो नाना भांति के सुन्दर, सुगंधित, चित्ताकर्षक पुष्प, लता, पौधे एवं अनेक प्रकार के मधुर, स्वादिष्ट फलों के वृक्षों से भरपूर है, जिनके कारण उस उपवन की शोभा अतुलनीय है। यदि उस उपवन का माली एक ही प्रकार के पौधे का सिंचन, नलाई व देखभाल करे और अन्य प्रकार के समस्त वृक्ष, पुष्प, लता आदि की देखभाल पर ध्यान न दे, न उनकी रक्षा करे, तो परिणाम यह होगा कि उस उपवन की समस्त शोभा, मधुरता, सुगंधता एवं सुन्दरता ही नष्ट हो जावेगी। एक उन्नत आत्मा अनेक प्रकार की शक्ति, विशेषता, गुण एवं भावना से युक्त, इतना ही सुन्दर व चित्ताकर्षक है, जितना कि सुन्दर पुष्प, फल आदि से युक्त मनोहर उपवन। यदि आत्मा के केवल एक ही गुण, विशेषता या शक्ति पर ध्यान दिया जाय अथवा वर्णन किया जाय एवं अन्य समस्त गुण, शक्ति व विशेषताओं की उपेक्षा की जाय, तो

इसका एक परिणाम यह होगा कि उस अनन्त शक्ति एवं गुण युक्त आत्मा की सम्पूर्ण सुन्दरता, मधुरता एवं विशेषता ही नष्ट हो जावेगी।

भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न गुणों का वर्णन एवं अन्य गुणों की उपेक्षा क्यों की ? इसके उत्तर केवल दो ही हो सकते हैं :—

(१) साधारण व्यक्ति के सदृश, आचार्यों की भी रुचि भिन्न-भिन्न होती है। अपनी रुचि के अनुसार, किसी आचार्य का ध्यान आत्मा के एक गुण की ओर जाता है और दूसरे आचार्य का किसी दूसरे ही गुण की ओर। एक आचार्य, अपनी रुचि के अनुसार, एक गुण को किसी एक दृष्टि से देखता है, दूसरा आचार्य उसी गुण को बिल्कुल दूसरी ही दृष्टि से अवलोकन करता है। जैसे वेदान्तदर्शन के रचयिता आचार्य का ध्यान आत्मा की स्थायी शुद्ध चिदानन्द अवस्था की ओर गया है। अन्य गुणों की उपेक्षा करके, वे इस शुद्ध, शास्वत, चिदानन्द अवस्था का उत्तम वर्णन करते हैं, यहां तक कि उनका कथन अतिशयोक्ति तक पहुंच जाता है। फलत: मनुष्य की परिवर्तनशील अनेक अवस्थायें, उनको माया व भ्रमपूर्ण दिखलाई देती हैं। उनको प्रतीत होता है कि इन अवस्थाओं का किसी प्रकार का भी प्रभाव आत्मा की शुद्ध चिदानन्द अवस्था पर नहीं पड़ता है। इसी प्रकार अन्य आचार्यो का ध्यान आत्मा के अन्य गुण एवं अवस्थाओं की ओर आकर्षित होता है और वे केवल उनका ही वर्णन करते हैं।

(२) महान पुरुषों पर, जिस देश, समाज, समय या परिस्थिति में उत्पन्न होते या कार्य करते हैं, उस देश, समाज व समय की नैतिक, आध्यात्मिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राष्ट्रीय स्थिति का प्रभाव पड़ता है। उनका ध्यान उस समय की आवश्यकताओं की ओर आकर्षित होता है। उस समय की अव्यवस्था एवं त्रुटियों को दूर करने के लिये वे कटिवद्ध होते हैं। समाज को तात्कालिक दोषों से विमुक्त करने के हेतु, वे नवीन सिद्धान्तों का निर्माण करते तथा उपदेश देते हैं। उदाहरण के तौर पर, एक पराधीन देश को लीजिये, जो अन्य देश द्वारा पद-

दलित किया गया है। पराधीन होने के कारण, उस देश की दशा अव्य-वस्थित, समाज कुरीति एवं अन्य दोषों से ग्रसित, जनता निर्धन, दुर्बल, साहस एवं उद्यमहीन, नैतिक व शारीरिक बल में क्षीण हो जाती है। उस देश के महान पुरुष, उस देश की आवश्यकताओं को देखकर, ऐसे सिद्धान्तों की रचना एवं प्रचार करेंगे कि जिससे देश में जागृति उत्पन्न हो, नवयुवक देश के उत्थान कार्य में लगें एवं स्वदेश को परतंत्रता के चंगुल से छुड़ा कर स्वतंत्र करें।

यदि किसी देश के निवासियों में मद्यपान, व्यभिचार एवं विलास प्रियता की प्रवृत्ति बढ़ गई है और इस प्रवृत्ति के कारण, अन्य दोष भी उत्पन्न हो गये हैं, उस देश के महान पुरुषों का ध्यान स्वमेव ही समाज की शोचनीय दुर्व्यवस्था की ओर आकर्षित होगा। वे ऐसे सिद्धान्तों की रचना एवं प्रचार करेंगे, जिनसे मद्यपान, व्यभिचार, विलास-प्रियता आदि दोष दूर हो जावें। वे व्यभिचार, मद्यपान आदि प्रचलित दोषों का घोर प्रतिवाद करेंगे एवं उन दोषों का समूलोन्मूलन करने का प्रबल प्रयास करेंगे।

समाज की परिस्थिति एवं उसकी तात्कालिक आवश्यकताओं का प्रभाव उस समय के महान पुरुषों पर पड़ता है। उन आवश्यकताओं की पूर्त्ति की भावना से प्रेरित होकर, देश व समाज के हित के लिये, ये महान पुरुष समयोपयोगी सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं। उनका ध्यान आत्मा के अनेक गुणों में से उस गुण एवं उस दृष्टि की ओर आकर्षित होता है, जिसकी अधिकता की आवश्यकता उस समय होती है। वे महान पुरुष तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने वाली दृष्टि एवं गुण का विशेष प्रतिपादन करते हैं तथा अन्य दृष्टि व अन्य गुणों का—अनावश्यक समझे जाने या उस ओर ध्यान के आकर्षित न होने से—वर्णन छूट जाता है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न आचार्यों ने, स्वरुचि अनुसार अथवा तात्का-लिक समाज की परिस्थिति के कारण, आत्मा के भिन्न-भिन्न गुण व अव-

स्थाओं का भिन्न-भिन्न दृष्टि से वर्णन किया है। इन आचार्य या इनके शिष्यों द्वारा, कुछ गुणों का मात्रा से अधिक वर्णन होने एवं अन्य गुणों की उपेक्षा किये जाने के कारण ही, भिन्न-भिन्न दर्शन एवं सिद्धान्तों का जन्म हुआ है।

यहां पर यह जान लेना उचित ही जान पड़ता है कि प्रचलित मुख्य दर्शन एवं धर्मो ने, आत्मा के किस-किस गुण को, किस-किस दृष्टि से देखा है एवं अन्य गुण व अन्य दृष्टियों की उपेक्षा की है तथा उन धर्मों पर, उनकी उत्पत्ति के समय विद्यमान परिस्थिति का, कहां तक प्रभाव पड़ा है। यह जान लेने से, इन दर्शनों की विभिन्नता व विरोध के कारण और भी अधिक स्पष्ट दिखलाई देने लगेंगे एवं इन दर्शन व धर्मो के यथार्थ समझने में अधिक सहायता मिलेगी।

४—दर्शनों का समन्वय

(१-२) सांख्य व योगदर्शन

इन दोनों दर्शनों ने अनन्त आत्मायें इस जगत में मानी हैं। ये आत्मायें अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहती हैं। अपने पूर्व कर्म संस्कारों के कारण, ये आत्मायें जगत की भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म धारण करती हुई भ्रमण करती रहती हैं। कर्मों का फल जीवों को स्वयं मिलता है। कोई अन्य चेतन शक्ति या ईश्वर प्राणियों को उनके कर्मों का फल नहीं देता है। सांख्यदर्शन ने पुरुष (आत्मा) व प्रकृति केवल दो ही पदार्थ माने हैं। जब प्रकृति व्यक्त दशा में होती है, उसके २३ भेद हो जाते हैं। पुरुष, प्रकृति और इस प्रकृति के २३ भेदों को मिलाकर २५ तत्व कहे हैं।

योगदर्शन ने उपरोक्त दो पदार्थों के अतिरिक्त, एक ईश्वर को भी माना है। परन्तु यह ईश्वर मनुष्य के किसी कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता, न मनुष्य को ही उसके पूर्व कृत कर्मों का फल देता है। उस ईश्वर को केवल ज्ञान देने वाला गुरु माना है। इन दोनों दर्शनों के अनुसार, जीव अज्ञानी होने के कारण, संसार में भ्रमण कर रहा है। ज्ञान हो जाने पर आत्मा कर्मबन्धन से छूट जाता है। कर्मबन्धन से छूटने के लिये, मनुष्य को इन्द्रिय संयम, विषय-वासना-त्याग, संसार से वैराग्य, अहिंसा आदि पंच व्रत (नियम) पालन करने एवं समाधि लगानी होती है। कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाने पर, आत्मा को केवल ज्ञान (सर्वज्ञता) प्राप्त हो जाता है। कुछ समय तक मनुष्य शरीर में जीवन्मुक्त (अर्हत्) अवस्था में रहकर, फिर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है, जहां वह अनन्त काल तक अपनी

दिव्य ज्ञान ज्योति से, संसार के समस्त पदार्थों को उनकी समस्त भूत, भविष्यत एवं वर्तमान अवस्था सहित, अवलोकन करता रहता है।

इन दोनों दर्शनों ने आत्मा के केवल ज्ञान स्वरूप का ही वर्णन किया है। आत्मा के शान्त आनन्द स्वरूप एवं अन्य गुणों का कथन नहीं किया है। इन दर्शनों ने आत्मा के आनन्द आदि अन्य गुणों की उपेक्षा की है। इन दर्शनों ने आत्मा को सदैव शुद्ध, निर्विकार, निरंजन, सर्वज्ञ, अकर्त्ता व भोक्ता माना है। इनके अनुसार आत्मा सदैव शुद्ध, निर्विकार रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। आत्मा कोई कार्य नहीं करता है। वह केवल दृष्टा एवं ज्ञाता है। संसार के प्राणियों में काम, क्रोध आदि अनेक प्रकार की जो भावनायें पाई जाती हैं, अनेक प्रकार की चेष्टायें व संकल्प विकल्प जो उनमें दृष्टिगोचर होते हैं, इन सब को प्रकृति का ही विकार माना है। इन दर्शनों के अनुकूल प्रकृति में ही अनेक प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं। आत्मा सदैव दृष्टा व ज्ञाता रहता है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि इन दार्शनिकों ने आत्मा को, केवल वास्तविक, शुद्ध चेतन स्वरूप की ही दृष्टि से, देखा है, कर्मों के आवरण के कारण आत्मा की विद्यमान परिवर्तनशील बाह्य अवस्था की, सर्वथा उपेक्षा की है।

सांख्यदर्शन ने इस दृश्यमयी जगत की उत्पत्ति एवं प्रलय की विशेष व्याख्या की है। इस दर्शन के अनुसार, इस सृष्टि का कर्त्ता एवं संहारक कोई विशेष चेतन शक्ति अथवा ईश्वर नहीं है और न आत्मा (पुरुष) ही कर्त्ता है। इसलिये इस जगत की उत्पत्ति एवं प्रलय का कारण, प्रकृति का परिवर्तन ही है।[1]

---

[1] सांख्यदर्शन में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन दिया हुआ है। सत्व, रज व तम गुण के सम भाव हो जाने पर, प्रकृति अव्यक्त दशा में पहुंच जाती है, उस समय यह दृश्यमय जगत लय हो जाता है। इस दशा को प्रलय कहा जाता है। कुछ समय के पश्चात्, प्रकृति अव्यक्त दशा से व्यक्त

योगदर्शन का मुख्य विषय योगाभ्यास का प्रतिपादन करना है, जिसके द्वारा, मुमुक्षु जीव चित्त की वृत्तियों का निरोध करके एवं आत्म स्वरूप में समाधि लगाकर, शुद्ध आत्मज्ञान स्वरूप की प्राप्ति कर सकता है। यह वर्णन बड़ा ही सुन्दर एवं अत्यन्त उपयोगी है। सांख्य व योगदर्शन ने अन्य विषयों का प्रतिपादन नहीं किया है, उनको उपेक्षा की दृष्टि से देखा है।

दशा की ओर झुकती है। सत्व, रज व तम गुणों में विषमता उत्पन्न हो जाती है। सबसे प्रथम प्रकृति में महत् भाव (बुद्धि) उत्पन्न होता है, [illegible]र का जन्म होता है। उसके पश्चात् मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां, [illegible]यां, पंच तन्मात्रायें व स्थूल पंचभूत उत्पन्न होते हैं, जिनके उ[illegible] पर सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

(३, ४) न्याय व वैशेषिक दर्शन

न्यायदर्शन का मुख्य विषय युक्तिवाद का प्रतिपादन करना है। युक्तिवाद को ही दृष्टि में रखकर उसने १६ तत्व माने हैं। अन्य समस्त विषयों को उसने, गौण दृष्टि से, देखा है। अन्य विषयों का प्रतिपादन उस दर्शन में बहुत कम किया गया है। जिन अन्य विषयों का प्रतिपादन किया गया है, वह अधूरा है। युक्तिवाद का वर्णन बड़ा ही विशद एवं स्पष्ट रीति से किया गया है। इस युक्तिवाद से, वस्तु के यथार्थ समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

वैशेषिकदर्शन में परमाणुओं का वर्णन बड़ी ही सुन्दरता के साथ किया गया है। परमाणुवाद ही इस दर्शन का मुख्य विषय है, अन्य विषयों का वर्णन गौण एवं अपूर्ण है।

इन दर्शनों ने आत्मा आदि ६ द्रव्य और गुण आदि ७ पदार्थ माने हैं। इन दोनों दर्शनों के अनुसार आत्मायें अनन्त हैं, अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहती हैं। ये आत्मायें पूर्व कर्म संस्कारों के कारण, अनेक योनियों में जन्म लेती हुई, संसार में भ्रमण करती रहती हैं। न्याय-दर्शन ने आत्मा के निम्नलिखित ६ लिंग माने हैं:—राग, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख व ज्ञान। वैशेषिक दर्शन ने आत्मा के उपरोक्त ६ गुणों (लिंगों) के अतिरिक्त अन्य ८ गुण और भी माने हैं। इन गुणों के वर्णन से स्पष्ट है कि इन दर्शनों ने आत्मा को, उसकी विद्यमान दशा (पर्यायार्थिकनय) की दृष्टि से ही, देखा है। प्रत्येक संसारी आत्मा में राग, द्वेष, सुख, दुख आदि भावनायें पाई जाती हैं। प्रत्येक आत्मा कुछ न कुछ प्रयत्न करता दिखलाई देता है। प्रत्येक आत्मा में न्यूनाधिक ज्ञान होता है। आत्मा का विचार, उसके वास्तविक स्वरूप ज्ञान, आनन्द आदि की दृष्टि से, नहीं

किया है। शरीर, इन्द्रिय तथा इन्द्रिय के विषय, इन्द्रिय द्वारा ज्ञान, बुद्धि, मन, दोष जन्य प्रवृत्ति, सुख व दुख से मुक्त होना ही मोक्ष की प्राप्ति करना है। इन दर्शनों में यह स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं किया गया है कि मुक्त होने पर आत्मा की क्या अवस्था होती है।

न्यायदर्शन के प्रमेय सम्बन्धित सूत्र में किसी ईश्वर का वर्णन नहीं है। केवल टीकाकारों ने प्रमेय तत्व में कथित आत्मा के दो भेद किये हैं :—सांसारिक आत्मा व परमात्मा। नैयायिकों के सदृश ही, वैशेषिकों ने भी ईश्वर विषय का विशेष प्रतिपादन नहीं किया है। आत्मद्रव्य के ही संसारी आत्मा व परमात्मा दो भेद किये हैं। परमात्मा को आत्मा का कर्मफलदाता भी कहा है।

इन दोनों दर्शनों में आत्म स्वरूप का प्रतिपादन, उसकी विद्यमान सांसारिक दृष्टि (पर्यायार्थिक नय) से, किया है जब कि पूर्व कथित सांख्य व योगदर्शनों में आत्मा के ज्ञान स्वरूप का वर्णन, उसके वास्तविक स्वरूप की दृष्टि (द्रव्यार्थिक नय) से, किया गया है। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से प्रतिपादन किये जाने के कारण ही, इन दर्शनों के द्वारा प्रतिपादित आत्म स्वरूप के वर्णन में विभिन्नता एवं अन्तर दिखलाई पड़ता है।

(५) वेदान्त या उत्तर मीमांसा

भारत की शिक्षित हिन्दु जनता में, वेदान्तदर्शन की मान्यता सबसे अधिक है। इस दर्शन ने केवल एक तत्व 'ब्रह्म' ही माना है, जो सच्चिदानन्द, सर्वव्यापी है। संसार में जो अनन्त आत्मायें दृष्टिगोचर होती हैं, वे सब ब्रह्म के ही अंश या प्रतिबिम्ब हैं। इस वेदान्तदर्शन के अन्तर्गत कई वाद प्रचलित हैं (जिनका वर्णन आगे किया जावेगा)। ये आत्मायें, पूर्व कर्म संस्कारों के कारण, संसार की अनेक योनियों में जन्म धारण करती हुई भ्रमण करती रहती हैं। ब्रह्म का अंश होने के कारण प्रत्येक आत्मा सच्चिदानन्द है। आत्मा सदैव शुद्ध, निरंजन, ज्ञान व आनन्दमयी है। मनुष्य अपनी अज्ञानता एवं भ्रम के कारण अपने को सुखी, दुखी, रोगी, निरोगी, ज्ञानी, अज्ञानी आदि मानता है। जब तक वह अज्ञान में फंसा रहता है, तब तक उसको संसार में भ्रमण करना पड़ता है। आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर, वह आत्मा संसार भ्रमण से मुक्त हो जाता है एवं सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य की बाह्य अवस्था में, जो निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, जिसके कारण मनुष्य में काम, क्रोध आदि अनेक प्रकार की भावनायें, ज्ञान आदि में न्यूनता, अधिकता एवं अनेक प्रकार के रूप रंग आदि दिखलाई देते हैं, इनको **'माया'** के शब्द से बोधित किया है। बाह्य जगत को भी माया बतलाया है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि वेदान्तदर्शन ने आत्मा के ज्ञान एवं आनन्द गुण पर, केवल आत्मा के वास्तविक स्वरूप की दृष्टि (द्रव्यार्थिक नय) से, विचार किया है। बाह्य अवस्था की दृष्टि (पर्यायार्थिक नय) से, बिल्कुल विचार नहीं किया है। बाह्य अवस्था को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है।

आत्मा की सत्ता के सम्वन्ध में, कितने ही विभिन्नवाद वदान्तवाद में गर्भित हैं। श्री शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित 'अद्वैतवाद' में ब्रह्म और जीव एक ही हैं, दृश्यमय जगत माया है। मनुष्य में परस्पर विभिन्नता, रागद्वेषादि भावनायें पाई जाती हैं; यह सब माया है। माया का स्वरूप अनिर्वचनीय बतलाया है। दूसरा वाद श्री रामानुजाचार्य प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत है। इस वाद के अनुकूल यद्यपि ईश्वर, जीव व जगत तीनों ही भिन्न-भिन्न हैं, तथापि जीव (चित्) और जगत (अचित्) ये दोनों ही एक ईश्वर के शरीर हैं, इसलिये चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है। इस ईश्वर शरीर के सूक्ष्म चित् अचित् से ही स्थूल चित् और स्थूल अचित् अर्थात् अनन्त जीव और जगत की उत्पत्ति हुई है। तीसरे वाद के प्रवर्तक श्री माध्वाचार्य जी हैं, जिसे द्वैतवाद कहते हैं। इसके अनुकूल ईश्वर व जीव सर्वथा भिन्न ही हैं। चतुर्थवाद 'शुद्धाद्वैत' श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसके अनुसार माया रहित शुद्ध जीव और ईश्वर एक ही हैं। मायात्मक जगत मिथ्या नहीं है। माया परमेश्वर की इच्छा से ही विभक्त हुई है, माया एक शक्ति है। इनके अतिरिक्त कितने ही भिन्न-भिन्न भाव वेदान्तदर्शन में गर्भित हैं।

पदार्थों के सम्बन्ध में विचारने से ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने संसार के समस्त चेतन व अचेतन पदर्थों को कुछ मूलतत्वों में विभक्त किया है। वैशेषिकदर्शन ने समस्त पदार्थों को ९ द्रव्यों में विभाजित किया है। योगदर्शन ने तीन द्रव्यों में और सांख्यदर्शन ने पुरुष व प्रकृति दो ही मूलतत्वों में संसार के समस्त चेतन व अचेतन पदार्थों को विभक्त किया है। इसी प्रकार वेदान्तदर्शन ने समस्त चेतन व अचेतन पदार्थों को एक ही मूलतत्व में समावेश करने का प्रयत्न किया है। एक ही मूलतत्व में सीमित करने के कारण, कितने ही वाद उत्पन्न हो गये हैं। एक ही मूलतत्व 'ब्रह्म' वेदान्तदर्शन ने स्वीकार किया है। सत्तागुण (Existence) संसार के समस्त चेतन अथवा अचेतन पदार्थों में सामान्य

रूप से पाया जाता है। यदि संसार के पदार्थो पर, केवल सत्ता गुण की ही दृष्टि से, विचार किया जावे, तो कहना पड़ेगा कि संसार के समस्त पदार्थो का आधार सत्तात्मक पदार्थ है। वेदान्तदर्शन ने संसार के पदार्थो का, केवल सत्ता की दृष्टि से, विचार किया है। इसलिये उसने केवल एक सत्तात्मक पदार्थ ब्रह्म माना है। इस ब्रह्म सत्तात्मक पदार्थ में चेतन व अचेतन कई पदार्थ सम्मिलित हैं। इसी कारण ब्रह्म को निर्गुण कहा है और उसकी व्याख्या 'नेति नेति' करके निषेधात्मक रूप में करनी पडी है एवं उसका स्वरूप अनिर्वचनीय बतलाना पड़ा है।

(६) पूर्व मीमांसा

पूर्व मीमांसा के प्रणेता श्री जैमिनि आचार्य हैं। इन्होंने वेद विहित कर्मकांड का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार मनुष्य को वेद विहित देवी देवताओं की पूजा, यज्ञ एवं वलि देनी चाहिये। इन कर्मों से उसको स्वर्ग एवं अन्य प्रकार के सुख व सम्पत्ति प्राप्त होती है। मनुष्य को अपने कर्मों का फल स्वयं मिलता रहता है। कर्मों का फल देने वाला कोई ईश्वर नहीं है, न संसार का कोई व्यवस्थापक परमात्मा है। वैदिक धर्म में अनेक देवता माने गये हैं, उनमें मुख्य तीन हैं:—सूर्य, इन्द्र और अग्नि।

सूर्य आकाश का राजा और सरदार है। शेष देवता उसको पथ-प्रदर्शक मानते हैं और वह उनको अमर जीवनदान देता है। इन्द्र वज्र का अधिष्ठाता है एवं देवताओं की सेना का सेनापति है। उसका शत्रु असुरों का स्वामी विरित्र है, जिसके साथ उसका संग्राम होता रहता है, जिसको इन्द्र ने अगणित वार परास्त व संहार किया है परन्तु वह विरित्र वार-वार उत्पन्न होकर, संग्राम करता है। वैदिक देवताओं में तीसरा वड़ा देवता अग्नि देवताओं का पुरोहित है, जिसके निमंत्रण पर, अन्य देवगण आते हैं। यह देवताओं का मुख भी है, जो भोजन या वलिदान अग्नि को भेंट किया जाता है, वह अन्य देवताओं को पहुंच जाता है। ये देवता वरावर हैं, इनमें से किसी देवता की शक्ति दूसरे से सीमित नहीं है।

उपरोक्त तीन देवता व अन्य देवगण का जो वृत्तान्त दिया हुआ है, यदि उनका शाब्दिक अर्थ लिया जाता है, तो वे कल्पित कथा एवं कहा-नियां प्रतीत होती हैं और उनके पढ़ने से, वेदों की महत्ता में वृद्धि नहीं होती, वरन् श्रद्धा में कमी आ जाती है। यदि वेदों की भाषा को अलंकारिक माना जावे और देवी देवताओं के वर्णन को आत्मा के गुणों का, कथानक

के रूप में, वर्णन समझा जावे, तो यह उलझन मिट जाती है और ये देवी देवता एवं कथायें आत्म स्वरूप के सुन्दर विवेचन में परिणत हो जाती हैं।

उपरोक्त देवताओं का वर्णन, अलंकारिक भाषा में समझ कर, निम्न प्रकार किया जा सकता है[1]:—

(१) सूर्य सर्वज्ञता का बोधक है। ज्ञान का दृष्टान्त सदैव सूर्य के साथ दिया जाता है। जिस प्रकार सूर्य के आकाश में प्रदीप्त होने से, समस्त पदार्थ दिखलाई देने लगते हैं, उसी प्रकार आत्मा में सर्वज्ञता के विकसित हो जाने पर, समस्त पदार्थ उसमें आलोकित होने लगते हैं।

(२) इन्द्र से तात्पर्य सांसारिक आत्मा से है, जो सांसारिक इन्द्रिय भोगों में मस्त रहता है। इन्द्र के सम्बन्ध में निम्न प्रकार कथा है :—

(क) इन्द्र ने, अपने गुरु वृहस्पति की पत्नी के साथ, व्यभिचार कर्म किया।

(ख) जिसके कारण, उसके शरीर में फोड़े फुन्सी फूट निकले।

(ग) ये फोड़े फुन्सी, ब्रह्मा जी की कृपा से, चक्षु बन गये।

इनके अतिरिक्त इन्द्र के सम्बन्ध में यह भी कहा है :—

(घ) इन्द्र अपने पिता का भी पिता है।

(च) इन्द्र का युद्ध सदैव असुरों के स्वामी विरित्र के साथ होता रहता है, जिसको इन्द्र ने अगणित बार परास्त एवं संहार किया है, परन्तु वह विरित्र बार-बार जीवित होकर युद्ध करता रहता है।

इनकी व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है :—

(क) सांसारिक आत्मा, बुद्धि द्वारा, ज्ञान प्राप्त करता है। शिष्य भी गुरु द्वारा ज्ञान की प्राप्ति करता है, अतएव बुद्धि ही मनुष्य (सांसारिक आत्मा) की गुरु हुई। बुद्धि साधारणतया विषयवासना की—जिसकी

---

[1] यह वर्णन श्री सी० आर० जैन रचित 'असहमत संगम' (Confluence of opposites) नामक पुस्तक से लिया है।

तृप्ति वाह्य पदार्थों के भोगने से होती है—ओर आकर्षित होती है, आत्मा की ओर वहुत कम जाती है, जैसा कि प्रायः संसार में देखा जाता है। इस प्रकार वुद्धि का सावारणतया सम्वन्ध वाह्य पदार्थ अर्थात् प्रकृति से है। इसलिये प्रकृति को वुद्धि की पत्नी कहा जा सकता है। जीव व प्रकृति के समागम को, अलंकारिक भाषा में, यह कह सकते हैं कि इन्द्र (सांसारिक आत्मा) ने अपने गुरु (वुद्धि) की पत्नी (प्रकृति) से सम्भोग किया।

(ख) मनुष्य ने वाह्य पदार्थों (प्रकृति) में मस्त रहने के कारण पाप कर्मों का वन्धन किया, जिससे सूक्ष्म पुद्गल परमाणु, कर्म रूप में परिवर्तित होकर, उसकी आत्मा के साथ सम्वन्धित हो गये। इन कर्म परमाणुओं का आत्मा के ऊपर आरोपित होना ही, फोड़े फुन्सी का निकलना है।

(ग) मनुष्य को जव ब्रह्मज्ञान हो गया जव वह समझ गया कि उसकी आत्मा ही ब्रह्म है, तो उसकी आत्मा ज्ञान से प्रकाशित हो गई। ज्ञान से प्रकाशित होना ही, नेत्रों का खुल जाना है। ज्ञान सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त है और आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, इसलिये सम्पूर्ण शरीर में आंखों का होना वतलाया है।

(घ) चिदानन्द स्वरूप परमात्म अवस्था ही आत्मा की सर्वोत्तम अवस्था है, इसलिये उसको (चिदानन्द परमात्म अवस्था को) संसारी आत्मा का पिता कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त, चिदानन्द परमात्म अवस्था संसारी, अपवित्र आत्म अवस्था से प्राप्त होती है अर्थात् चिदानन्द परमात्मा का उपादान कारण संसारी आत्मा है, इसलिये संसारी आत्मा को चिदानन्द परमात्मा का पिता कहा जा सकता है। इसको अलंकारिक भाषा में निम्न प्रकार कह सकते हैं:—इन्द्र (संसारी आत्मा) अपने पिता (चिदानन्द स्वरूप परमात्मा) का भी पिता (उपादान कारण) है।

(च) काम, क्रोध आदि क्षुद्र वृत्तियां ही असुरों की सेना है। इन क्षुद्र वृत्तियों का सरदार मोह राजा (ममताभाव) ही असुरों का स्वामी

विरित्र है, जिसके साथ इन्द्र (आत्मा) का सदा युद्ध होता रहता है। संसारी आत्मा, जब आत्म ज्ञान से युक्त होकर, शुद्ध होने का प्रयत्न करता हुआ परमात्म अवस्था को प्राप्त होता है, उस समय उसको अपनी क्षुद्र वृत्तियों से घोर संग्राम करके, उन्हें परास्त एवं मोह ममता भाव को नाश करना होता है, इसी को, अलंकारिक भाषा में, इन्द्र का असुरों के स्वामी विरित्र के साथ संग्राम करना एवं विरित्र का परास्त व संहार करना कहा जा सकता है।

(३) अग्नि तीसरा देवता है। तपस्या की उपमा प्रायः अग्नि से ही दी जाया करती है। यह साधारणतया कहा जाता है कि तपस्या द्वारा आत्मा इस प्रकार शुद्ध हो जाता है, जैसे अग्नि में तपाने से स्वर्ण शुद्ध हो जाता है। अतः अग्निदेव से तात्पर्य तपस्या से है। अग्नि देवता के सम्बन्ध में निम्न प्रकार कहा गया है :—

(क) उसके तीन पैर हैं।

(ख) उसके सात हाथ हैं।

(ग) उसके सात जिह्वायें हैं।

(घ) वह देवताओं का पुरोहित है, जो उसके बुलाने से आते हैं।

(च) वह भक्ष्य और अभक्ष्य दोनों प्रकार के पदार्थों का भक्षण कर जाता है।

(छ) वह देवताओं को बल देता है अर्थात् जितना अधिक बलिदान अग्नि पर चढ़ाया जाता है, उतनी ही अधिक पुष्टि देवताओं की होती है।

इनकी व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है :—

(क) तप तीन प्रकार से होता है अर्थात् मन, वचन एवं शरीर वश में करने से। यदि मन, वचन व शरीर, इन तीनों में से किसी दो पर नियंत्रण किया जावे और तीसरे को अनियंत्रित छोड़ दिया जावे, तो तपस्या अधूरी रहती है। मन, वचन एवं शरीर, इन तीनों का नियंत्रण ही तपस्या का आधार है, इसलिये तपस्या के तीन पग कहे हैं।

(ख) सात हाथों से तात्पर्य ७ ऋद्धियों से है, जो तपस्वियों को प्राप्त हो जाया करती हैं। मनुष्य शरीर के मेरु दंड में योग के चक्र हैं, जिनमें ऋद्धियां (शक्तियां) गुप्त रीति से सुपुप्त मानी गई हैं। तपस्या से, ये ऋद्धियां जागृत हो जाती हैं। शक्ति (ऋद्धि) का प्रयोग हस्त द्वारा होता है, इसलिये इन ७ शक्तियों को अग्नि के ७ हस्त कहे हैं।

(ग) अग्नि की सात जिह्वाओं से तात्पर्य, पांच इन्द्रियां, मन एवं वुद्धि से है, जिनको तपस्या की अग्नि में भस्म किया जाता है।

(घ) तपस्या करने से आत्मा में अनेक ईश्वरीय गुण प्रगट हो जाते हैं। इसलिये इन ईश्वरीय गुणों को देवगण और तपस्या को प्रधान होने के कारण अन्य गुणों (देवगण) का पुरोहित कहा है। ये अन्य गुण तपस्या करने पर ही प्रगट होते हैं, इसलिये इन गुणों के प्रगट होने (देवताओं के आने) को तपस्या (अग्निदेव) द्वारा आह्वानन करना वतलाया है।

(च) पुण्य और पाप दोनों वन्धन हैं। दोनों ही आवागमन के कारण हैं। पुण्य से हृदयग्राही और पाप से अरुचिकर योनियां एवं सुख, दुख की सामग्रियां प्राप्त होती हैं। मुमुक्षु जीव को, आत्म शुद्धि के लिये, पुण्य एवं पाप दोना ही छोड़ने पड़ते हैं, इसलिये अग्नि (तपस्या) को भक्ष्य (पुण्य) और अभक्ष्य (पाप) दोनों को ही भक्षण करना होता है।

(छ) तपस्या का भोजन वासना व इच्छायें हैं। तपस्या का प्रयोजन वासना का नष्ट करना है। जितनी-जितनी वासना एवं इच्छायें नष्ट होती जावेंगी, उतने ही अधिक ईश्वरीय गुण प्रगट तथा उनकी पुष्टि आत्मा में होती जावेगी। अलंकारिक भाषा में, ईश्वरीय गुणों को देवगण कहते हैं, अतः अग्नि पर वासना एवं इच्छाओं के वलिदान करने से देवताओं (अन्य ईश्वरीय गुणों) की पुष्टि होती है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि यदि वेद विहित देवी देवता एवं तत्सम्बन्धी कथानक को आत्मिक गुणों का, अलंकारिक भाषा में, वर्णन मान लिया जावे, तो यह कथन बड़ा मनोहर, हृदयग्राह्य एवं शिक्षाप्रद बन जाता है और सब प्रकार का विरोध मिट जाता है। उपरोक्त तीन देवता के समान, अन्य देवगण भी आत्मा के अन्य गुणों के बोधक हैं और उनकी व्याख्या भी, उपरोक्त प्रकार से, भलीभांति की जा सकती है।

(७) बौद्ध दर्शन

ढाई सौ वर्ष पूर्व महात्मा गौतमबुद्ध ने भारतवर्ष में जन्म लिया था। उनका हृदय, संसार में विद्यमान दुख एवं धर्म के नाम पर किये जाने वाले पशुवध से द्रवित हो गया था। उन्होंने कितने ही वर्ष वन में रहकर अनेक प्रकार की तपस्या आदि करके दुख की समस्या का समाधान ढूंढ़ निकाला। उन्होंने मुख्य चार सिद्धान्त निर्धारित किये थे, जिनको बौद्ध धर्म का स्तम्भ कहा जाता है।

(१) दुख का अस्तित्व—संसार में चारों ओर दुख का साम्राज्य स्थापित है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी प्रकार के दुख से पीड़ित है, जिससे मुक्त होने के लिये, वह सदैव उत्सुक रहता है।

(२) दुख का कारण—दुख का कारण यह है कि मनुष्य विषय-वासना की तृप्ति में लगा हुआ है एवं उसको अपने शरीर आदि से बड़ा मोह व ममता है।

(३) दुख का दूर करना—यह दुख उस समय नष्ट हो सकेगा, जब मनुष्य विषयवासना व इच्छा पर नियंत्रण प्राप्त कर ले और उसके हृदय में वासना व इच्छा उत्पन्न न हो।

(४) दुख दूर करने के उपाय—विषयवासना नष्ट करना ही ध्येय है, इसके लिये उन्होंने आठ अंग वाले मार्ग का उपदेश दिया है, जो निम्न प्रकार है :—

(१) सत्य श्रद्धान, (२) सत्य विचार, (३) सत्य वाणी, (४) सत्य चारित्र, (५) जीवन निर्वाह के लिये सत्य आजीविका, (६) सत्य कार्य का प्रयत्न, (७) सत्य (शुद्ध) बातों की स्मृति; (८) सत्य समाधि।

महात्मा बुद्ध ने जीव के आवागमन एवं भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म

धारण करने का वर्णन किया है और उपदेश दिया है कि संसार की प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता रहता है, कोई भी वस्तु एकसी दशा या अवस्था में कभी स्थिर नहीं रहती। परिवर्तन वस्तु का स्वरूप वतलाया है। उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध ने आत्मा का कथन, उसकी विद्यमान वाह्य अवस्था की दृष्टि (पर्यायार्थिक नय) से, किया है। तथा विद्यमान दुखों से छूटने के लिये उचित मध्यम मार्ग[1] का उपदेश दिया है। आत्मा के स्वरूप पर उसके वास्तविक स्वभाव की दृष्टि (द्रव्यार्थिक नय) से विवेचन नहीं किया है। यही कारण अन्य दर्शनों से विरोध का है।

महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात्, उनके अनुयायियों ने इस सिद्धान्त--संसार की प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता रहता है--को अतिशयोक्ति तक पहुंचा दिया है। उनके अनुकूल जीव में भी परिवर्तन होता रहता है। एक योनि में स्थित शरीर में एक आत्मा लगातार नहीं रहता है वरन् उसमें परिवर्तन होता रहता है। एक शरीर में जो आत्मा इस समय स्थित है, दूसरे समय दूसरा ही आत्मा आ जाता है, पहिला आत्मा उस शरीर में से निकल जाता है। एक योनि से दूसरी योनि तक पहिले आत्मा का अस्तित्व, वास्तव में, नहीं रहता है। ऐसी दशा में आवागमन के सम्बन्ध में बौद्ध आचार्यों ने एक अद्भुत ही सिद्धान्त स्थिर किया है कि मनुष्य की मृत्यु के पश्चात्, उसके चरित्र सम्बन्धी संस्कारों का समूह उससे पृथक हो जाता है और नवीन योनि में पहुंच कर, पुद्गल के नये स्कंधों के साथ मिलकर, नवीन शरीर धारण कर लेता है। पिछले बौद्ध

---

[1] मध्यम मार्ग से उस भिक्षुक मार्ग का तात्पर्य है, जिसमें न तो शारीरिक कष्टों का अधिक सहन एवं दुर्द्धर तप करके शरीर को कृष किया जावे और न जिसमें गृहस्थ की भांति इन्द्रिय विषय आदि भोग विलासों में ही लगा जावे।

आचार्यों के अनुसार, जीव पुद्गल स्कंधों का एक पुंज है, जो अपने पूर्व चरित्र सम्बन्धी संस्कारों से संयुक्त रहता है। इस चरित्र सम्बन्धी संस्कार से मुक्त होना ही, बौद्ध धर्म का निर्वाण है। बौद्धदर्शन इस जगत को अनादि मानता है, इसका रचयिता या संस्थापक किसी ईश्वर या चेतन व्यक्ति को स्वीकार नहीं करता है।

(८) जैन दर्शन

जैनधर्म, इस युग व क्षेत्र में, भगवान ऋषभदेव को अपने धर्म का प्रवर्त्तक मानता है, जिनका समय भूतकाल के अन्धकार में विलुप्त है। इस धर्म के अन्तिम उद्धारकर्त्ता भगवान महावीर थे, जो भगवान बुद्धदेव के समकालीन थे। जैनधर्म ने छ स्वतंत्र पदार्थों को माना है, जो अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। इसके अनुसार जगत भी अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। यह दर्शन किसी ईश्वर या परमात्मा को इस जगत का न संस्थापक, न कर्मफलदाता मानता है।

इस दर्शन के ६ मूलतत्वों में से दो मूलतत्व जीव (आत्मा) व पुद्गल (भौतिक पदार्थ) मुख्य हैं। जीव अनन्तान्त हैं, जो अनादि काल से पूर्व कर्मसंस्कार के कारण, इस संसार की भिन्न-भिन्न योनियों में, शरीर धारण करते हुए भ्रमण एवं अनेक प्रकार के कष्ट भोग रहे हैं। जीव व पुद्गल दोनों पदार्थों की पारस्परिक क्रिया व प्रतिक्रिया से, कर्म संस्कार उत्पन्न होते हैं। कर्म सिद्धान्त का इस दर्शन ने वड़ा विशद वर्णन, वैज्ञानिक ढंग से, किया है, जो पठन एवं मनन करने योग्य है। इस सिद्धान्त का विस्तार पूर्वक वर्णन पहिले 'कर्म सिद्धान्त' शीर्षक अध्याय व उसके फुट नोट में किया जा चुका है।

जैन दर्शन के अनुसार, आत्मा अनेक गुण व पर्याययुक्त पदार्थ है। दर्शन, ज्ञान, आनन्द व वीर्य इस आत्मा के मुख्य गुण हैं। स्वभाव की अपेक्षा, आत्मा में समस्त पदार्थों के देखने व जानने की शक्ति (सर्वज्ञता), आनन्द एवं अनन्त सामर्थ्य है। ये गुण आत्मा में सदैव विद्यमान रहते हैं, इनका नाश कभी नहीं होता। आत्मा का यह ज्ञान आनन्द वीर्य स्वरूप, कर्मों के कारण, आच्छादित एवं विकृत हो रहा है। कर्मों के आवरण के

कारण हो, मनुष्य के ज्ञान में न्यूनता या अधिकता देखी जाती है, आत्मा के शान्त आनन्द स्वरूप के विकृत होने से, काम, क्रोध आदि अनेक प्रकार की भावनायें संसारी आत्मा में पाई जाती हैं एवं आत्मा की अनन्त शक्ति, कर्मों से आवृत होने के कारण, साहस, संकल्प शक्ति आदि के रूप में प्रदर्शित होती है। यह दर्शन आत्मा की अवस्था को परिवर्तनशील मानता है। इसके अनुसार मानसिक चेष्टा, शरीर आदि की स्थिति सदैव बदलती रहती है।

मनुष्य जब अपने शुद्धज्ञानानन्द स्वरूप को भलीभांति जानकर एवं निश्चित करके कि उसकी वर्तमान अशुद्ध, मलिन दशा एवं दुखपूर्ण स्थिति, पूर्व कर्मों के कारण, हो रही है, अपने आत्मस्वरूप में दृढ़ श्रद्धान[1] एवं उसके प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करता है; मन को विषय वासना से हटाकर, संयम व तप द्वारा इन्द्रियों को नियंत्रित तथा कर्मबन्धन को नष्ट करता है, उस समय उसकी आत्मा शुद्ध होकर परमात्म अवस्था को प्राप्त हो जाती है। अर्हत् अवस्था को प्राप्त करके, अपनी दिव्य ज्ञान ज्योति में संसार के समस्त पदार्थों को अवलोकन करता है एवं दिव्य, अलौकिक आनन्द में मग्न होकर, अनुपम सुख का आस्वादन करता है। इस अर्हत् (जीवन्मुक्त) अवस्था में, कुछ काल तक रहकर एवं संसार के प्राणियों

---

[1] जैनधर्म ने सम्यक्दर्शन [आत्म स्वरूप अथवा जीव १, अजीव २, कर्मों के आस्रव ३, बन्ध ४, संवर ५ (कर्म का रोकना), निर्जरा ६ (कर्म का फल देने एवं शक्तिविहीन होने के पश्चात् आत्मा के सम्बन्ध से पृथक होना) एवं मोक्ष ७ (कर्मों से बिल्कुल मुक्ति) सप्त तत्वों का दृढ़ श्रद्धान], सम्यक्ज्ञान (आत्म-स्वरूप अथवा उपरोक्त सप्त तत्वों का यथार्थ ज्ञान), व सम्यक् चारित्र (आत्म-स्वरूप में लीन होना अथवा चारित्र का भली-भांति पालन करना) को मोक्ष का मार्ग बतलाया है, इन तीनों के धारण करने का विशेष उपदेश दिया है।

को अपनी दिव्य वाणी द्वारा ज्ञानामृत पान कराकर, मोक्ष को पधार जाता है, जहां अनन्त काल तक दिव्य आनन्द में मग्न रहता है और जहां उसके दिव्य ज्ञान में संसार के समस्त त्रिलोकवर्त्ती पदार्थ आलोकित होते रहते हैं।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि जैनदर्शन ने आत्मा के ज्ञान, आनन्द शक्ति आदि गुणो को, उसके वास्तविक स्वरूप की दृष्टि (द्रव्यार्थिक नय) से एवं वर्तमान मलिन संसारी दशा को, बाह्य अवस्था की दृष्टि (पर्यार्थिक नय) से, यानी दोनों दृष्टियों से, विचार किया है। पूर्व में लिखा जा चुका है कि इस दर्शन ने प्रत्येक पदार्थ को अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक गुण वाला माना है और इसके कथन का ढंग स्याद्वाद[1] रूप है। जैनदर्शन ने इस स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद पर बहुत ही अधिक ज़ोर दया है। इस दर्शन की धारणा है कि स्याद्वाद का यथार्थ ज्ञाता भिन्न-भिन्न दर्शनों के विभिन्न एवं विरोधी सिद्धान्तों को भलीभांति समझ सकता है, विवाद ग्रस्त विषय के भिन्न-भिन्न गुण एवं अवस्थाओं का, भिन्न-भिन्न दृष्टि से विवेचन करके, उनके विरोध को मिटा सकता है। विरोध को हटाकर जो सिद्धान्त निर्धारित होगा, वही सत्य एवं यथार्थ होगा।

---

[1] स्याद्वाद का शाब्दिक अर्थ है कि (स्याद्+वाद) किसी वस्तु का, किसी एक दृष्टि से, वर्णन करना। स्याद्वाद कथन से तात्पर्य है कि किसी वस्तु के सम्बन्ध में जो कोई वर्णन किसी समय किया जाता है, उसके सम्बन्ध में यह समझ लिया जावे कि यह कथन उस वस्तु के समस्त गुण व अवस्थाओं का नहीं है वरन् यह वर्णन उस वस्तु के किसी एक विवक्षित गुण या अवस्था का किसी एक दृष्टि से किया गया है। उस वस्तु के अन्य गुण व अवस्थाओं का एवं उस विवक्षित गुण का अन्य दृष्टि से वर्णन, अन्य प्रकार भी होता है। ऐसा समझ लेने से किसी मनुष्य को उस वस्तु के सम्बन्ध में भ्रम नहीं होगा। इस सिद्धान्त का वर्णन पहिले भी हो चुका है देखो पृष्ठ २०६ ?

जैनधर्म प्रतिपादित्त चारित्र का प्रासाद अहिंसा सिद्धान्त की नींव पर खड़ा है। उच्च अर्थ में, हिंसा शब्द से तात्पर्य काम, क्रोध आदि उन समस्त भावना एवं प्रवृत्तियों से है, जिनके होने से आत्मा की शान्त वीतराग अवस्था विकृत एवं नष्ट होती है। इस उच्च अर्थ में, अहिंसा शब्द से तात्पर्य आत्मा की शान्त वीतराग अवस्था से है। शिष्य एवं जनता के समझाने के हेतु, हिंसा की भावना को हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म एवं परिग्रह (सांसारिक पदार्थों से ममता एवं उनके ग्रहण करने की लालसा) पंच भावनाओं में विभक्त किया है, जिनको पांच पापों के नाम से पुकारा है। इन पंच पापों के त्याग को अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह (परिग्रह त्याग) पंच व्रत कहा है। ये ही पंच व्रत जैनधर्म सम्बन्धी सम्पूर्ण चारित्र के आधार हैं। इनकी ही सहायता के लिये, अन्य व्रत, यम व नियम बतलाये हैं। गृहस्थ व साधु अवस्था की परिस्थिति अनुसार, इन व्रतों के विवेचन में अन्तर कर दिया गया है।

अहिंसा आदि पंच व्रतों का वर्णन चारित्र के निषेधात्मक पक्ष को दृष्टि में रखकर किया गया है। जब चारित्र के विधेयात्मक पक्ष का वर्णन किया जाता है, तो शुद्ध परमात्मा अर्हत् के गुणों का स्तवन, परमात्म अवस्था का ध्यान, स्वकृत कार्यों की दैनिक आलोचना, स्वाध्याय, तप, परोपकार आदि नियम व कार्य—जिनके करने से आत्मा को शान्त वीतराग अवस्था प्राप्त करने में सहायता मिलती है—मुमुक्षु जीव के लिये बतलाये हैं। वे नियम वास्तव में अहिंसा धर्म का विधेयात्मक पक्ष है। अन्वीक्षण एवं अनुसन्धान द्वारा निर्धारित उपरोक्त आत्म स्वरूप एवं चारित्र के कथन से जैनधर्म कथित आत्म स्वरूप व चारित्र का वर्णन बहुत कुछ मिलता जुलता है।

(६) ईसाई धर्म

ईसाई धर्म के प्रवर्त्तक महात्मा ईसा हैं। २००० वर्ष पूर्व एशिया के पश्चिम भाग में जरूसलम नगर के समीप, महात्मा ईसा ने जन्म लिया था। वह प्रदेश उस समय रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत था। वहां की जनता अज्ञानता एवं रूढ़ियों की जंजीर में फंसी थी। प्रचलित धर्म, रीति रिवाज एवं साम्राज्य के विरुद्ध कहना भी पाप समझा जाता था। प्रतिकूल विचारों के सुनने की क्षमता जनता में न थी, असहिष्णुता की मात्रा अधिक बढ़ी हुई थी। ऐसी परिस्थिति में, महात्मा ईसा ने इस पृथ्वी पर जन्म धारण किया था। यह बिल्कुल स्वाभाविक ही था कि इस परिस्थिति का प्रभाव उनके उपदेश एवं कार्यप्रणाली पर पड़ता। उन्होंने अपना उपदेश, कहानी (Parables) एवं अलंकारिक भाषा (allegories) के रूप में, देना प्रारम्भ किया।[१] उनको यह

---

[१] "Give not that which is holy unto the dogs, neither cast ye your pearls before Swine, lest they trample them under their feet and turn again and rend you." Bible *Mathew Chap*. 7, 6.

ईसाइयों की पवित्र पुस्तक बाइबिल (मेथ्यू अध्याय ७-६) में कहा है कि "पवित्र वस्तु को कुत्ते को मत दो, न अपने मोती सुअर के सामने डालो, नहीं तो वे उनको अपने पैरों के नीचे कुचल डालेंगे और तुम पर टूट पड़ेंगे तथा तुमको फाड़ डालेंगे" जिसका भावार्थ निम्न प्रकार है:—
"तुम अपना उपदेश कुपात्र को मत दो, वह तुमसे उल्टा अप्रसन्न हो कर, तुम्हारा अनिष्ट करने के लिये, उतारू हो जावेगा।

भय था कि यदि उन्होंने प्रचलित धर्म एवं रीति रिवाज के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला आन्दोलन किया, तो वे स्वयं एवं उनके अनुयायी विपत्ति में पड़ जावेंगे और वे अपनी शुभ भावना को कार्यरूप में परिणत न कर सकेंगे'।

ईसाई धर्मावलम्बी प्राचीन समय के आचार्य यह भलीभांति जानते थे, कि महात्मा ईसा का सदुपदेश कहानी की अलंकारिक भाषा के पर्दे में छिपा हुआ है और उसका वास्तविक अर्थ शाब्दिक अर्थ से कहीं भिन्न है।[2] वे सत्य को पहचानते थे। अर्वाचीन समय के आचार्य बाइबिल

"It is not meet to take the children's bread and to cast it unto the dogs." Bible *Mark VII*, 27.

बाइबिल में (मार्क-अध्याय ७-२७) कहा है "यह उचित नहीं है कि बच्चों की रोटी ले ली जावें और उन्हें कुत्तों के सामने डाल दी जावें" जिसका भावार्थ यह है कि यह उचित नहीं है कि जो उपदेश सुपात्रों के योग्य है, वह कुपात्रों को दिया जावे।

'But without a parable spake he not unto them.' Bible *Mark IV*, 34.

बाइबिल में (मार्क अध्याय ४-३४) में कहा है कि बिना कहानी के, वे उनसे (जनता से) नहीं कहते थे।

[1] ईसामसीह का भय घटना के रूप में सत्य निकला। महात्मा ईसा की मृत्यु उपरोक्त उपदेश के कारण, शूली पर चढ़ा कर की गई थी।

[2] "And he said 'Unto you it is given to know the mysteries of the Kingdom of God, but to others in parables, that seeing, they might not see and hearing, they might not understand."

Bible *Luke VIII*, 10

तथा अन्य पुस्तकों का शाब्दिक अर्थ लेते हैं, जिसका परिणाम यह हुआ कि ईसाई मत का प्रभाव पाश्चात्य स्त्री पुरुषों के हृदय से उठ रहा है।

महात्मा ईसा ने मानव जीवन को उच्च, शुद्ध एवं शान्तमय बनाने के लिये, बहुत ही उत्तम एवं उच्च उपदेश दिया है, जिसके अनुसार चलने से, मनुष्य की आत्मा शुद्ध, शान्त, आनन्द रूप अवस्था का अनुभव करने लगती है। महात्मा ईसा के विख्यात 'पर्वत पर के व्याख्यान' (Sermon on the mount) के कुछ अंश उद्धृत किये जाते हैं।

उन मनुष्यों को--जो नम्र हैं--धन्य है क्योंकि उनका स्थान स्वर्ग में निश्चित है। मैथ्यू (अध्याय, ५-३)

वे मनुष्य—जिनका हृदय शुद्ध है—धन्य हैं क्योंकि वे परमेश्वर से मिल सकेंगे। मैथ्यू (अ० ५-८)

उन मनुष्यों को--जिन पर सत्यता के कारण अत्याचार किया जाता है—धन्य है क्योंकि उनके लिये स्वर्ग में स्थान सुरक्षित है। (मैथ्यू अ० ५-१०)

बाइबिल (लूक अध्याय ८-१०) में लिखा है कि उन्होंने (महात्मा ईसा ने) कहा "तुम ईश्वरीय साम्राज्य के रहस्य को समझ सकोगे, परन्तु अन्य मनुष्यों के लिये कहानी में कहा गया है क्योंकि वे देखते हुए भी न देख सकेंगे और सुनते हुए भी न समझ सकेंगे"

'Very many events are figuratively predicted by means of enigmas and allegories and parables and they must be understood in a sense different from the literal description' (Tertullian). Ante Nicene Christian Library Vol. VII, P. 176.

"Truth lies hidden veiled in obscurity" (Lactantius) A. N. C. L. Vol. XXI, p. 2.

यह कहा जाता है कि 'आंख के बदले आंख, पैर के बदले पैर (अर्थात् जैसे को तैसा), परन्तु मैं तुमसे कहता हूं कि बुराई के बदले बुराई मत कर। यदि कोई मनुष्य तुम्हारे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे, तो तुम उसकी ओर बायां गाल भी कर दो। (मैथ्यू अ० ५—३८-३९)

यह कहा जाता है कि तुम अपने पड़ौसी से प्रेम एवं अपने शत्रु से द्वेष करो, परन्तु मैं तुमसे कहता हूं कि तुम अपने शत्रुओं से प्रेम करो, जो तुमको अपशब्द कहे, उन्हें आशीर्वाद दो, जो तुमसे घृणा करते हों, उनके साथ भलाई करो, जिसका वर्ताव तुम्हारे साथ बुरा हो और जो तुम पर अत्याचार करते हों, उनके आत्म कल्याण के लिये प्रार्थना करो। (मैथ्यू अ० ५—४४, ४५)

तुम जो दान दो, उसकी सूचना बायें हाथ को भी न होने दो। तुम्हारा दान गुप्त होना चाहिये। ईश्वर गुप्त बातों को देखता है, वह तुमको गुप्त दान का पुरस्कार देगा। (मैथ्यू अ० ६—३, ४)

महात्मा ईसा ने, उपरोक्त प्रकार का उच्च उपदेश अपने अनुयायियों को देकर, इस पृथ्वी को स्वर्ग में परिणत करने का प्रयास किया था।

आत्मा व परमात्मा का वास्तविक स्वरूप एवं उनका पारस्परिक सम्बन्ध, स्पष्ट रूप से, ईसाई धर्म में नहीं दिखलाया गया। महात्मा ईसा एवं ईसाई धर्म के पूर्व आचार्यों का कथन, अलंकारिक भाषा के पर्दे में, छिपा हुआ है। उनके कथन को ध्यानपूर्वक पढ़ने एवं समझने से प्रतीत होता है कि आत्मा व परमात्मा का स्वरूप इस पुस्तक द्वारा निर्धारित आत्मा व परमात्मा के स्वरूप से मिलता जुलता है, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणों से प्रगट होता है :—

तुम भी इतनी ही शुद्धता एवं पूर्णता को प्राप्त करो, जितनी शुद्धता एवं पूर्णता तुम्हारे पिता ईश्वर में हैं, जो स्वर्ग में विराजमान है। (मैथ्यू अ० ५-४८)

मैंने कहा है कि तुम स्वयं ईश्वर हो। (जान अ० १०-३४)

देखो ईश्वर का साम्राज्य तुम्हारे अन्दर है। (लूक अ० १७-२१)

तुम भी वे ही विचार हृदय में धारण करो, जैसे कि ईसा मसीह में थे। ईश्वर का अवतार होते हुए भी, उसने ईश्वर सदृश होने के प्रयास में अपराध नहीं समझा। फिलीपियन (अ० २—५, ६)

सबसे अधिक जानने योग्य यह है कि तू अपने आपको जान ले। यदि तुम अपने आपको जान लोगे, तो तुम ईश्वर को भी जान जाओगे। यदि तुम ईश्वर को जान लोगे, तो तुम ईश्वर सदृश हो जाओगे। सुनहरे या बढ़िया कपड़े पहिनने से नहीं, वरन् अच्छे कार्य करने एवं अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करने से ईश्वर तुल्य बन सकोगे। (क्लीमेन्ट clement) एन्टीनिसन क्रिश्चियन पुस्तकालय (पुस्तक ४, पृ० २७३)

(१०) इस्लाम धर्म

मुसलमान धर्म के प्रवर्तक हज़रत मोहम्मद साहब पैग़म्बर हैं। १४०० वर्ष पूर्व पैग़म्बर साहब ने अरब देश के मक्का नगर में जन्म लिया था। उस समय वहां पर यहूदी, पारसी आदि धर्म का ज़ोर था, वहां की जनता बड़ी कट्टर, अज्ञानता व रूढ़ियों में फंसी हुई एवं असहिष्णु थी। अनेक देवताओं की पूजा होती थी। प्रचलित धर्म के रीति रिवाज के विरुद्ध किसी बात के सुनने की, उसमें क्षमता न थी। जो मनुष्य प्रचलित धर्म या रीति रिवाज के विरुद्ध आवाज़ उठाता या प्रचार करता था, उसको तलवार के घाट उतार दिया जाता था। ऐसी परिस्थिति में, हज़रत मोहम्मद ने जन्म लिया था। वहां की रीति के अनुसार, मोहम्मद साहब अच्छे वक्ता एवं घुड़सवार थे। वे बचपन से ही विचारशील थे। हीरा पर्वत की गुफा में, कितने ही दिनों तक रहकर, तप व ध्यान किया था और उन्हें ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ था।

मोहम्मद साहब ने अपने धर्म का प्रचार, संतुलित भाषा में, प्रारम्भ किया। इस पर भी उनका विरोध बढ़ने लगा। उनके कुछ अनुयायी हो गये। उन पर आक्रमण हुआ। मोहम्मद साहब ने अपने अनुयायियों की सहायता से, आक्रमणकारियों पर विजय पाई। उनके अनुयायी बढ़ने लगे एवं उनके धर्म में भी तलवार के ज़ोर के साथ साथ वृद्धि होने लगी। मोहम्मद साहब, धर्म प्रवर्त्तक के साथ साथ, देश के भी शासक हो गये।

यह स्वभाविक ही था कि वहां की परिस्थिति का प्रभाव मोहम्मद साहब के धर्म एवं उपदेश पर पड़ता। इसलिये मोहम्मद साहब द्वारा रचित क़ुरान में धर्म, समाज, न्याय, राजनीति आदि अनेक विषयों पर आयतें (पद) हैं। कितनी बातें अलंकारिक भाषा में कही गई हैं और

भय था कि यदि उन्होंने प्रचलित धर्म एवं रीति रिवाज के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला आन्दोलन किया, तो वे स्वयं एवं उनके अनुयायी विपत्ति में पड़ जावेंगे और वे अपनी शुभ भावना को कार्यरूप में परिणत न कर सकेंगे'।

ईसाई धर्मावलम्बी प्राचीन समय के आचार्य यह भलीभांति जानते थे, कि महात्मा ईसा का सदुपदेश कहानी की अलंकारिक भाषा के पर्दे में छिपा हुआ है और उसका वास्तविक अर्थ शाब्दिक अर्थ से कहीं भिन्न है।[2] वे सत्य को पहचानते थे। अर्वाचीन समय के आचार्य बाइबिल

"It is not meet to take the children's bread and to cast it unto the dogs." Bible *Mark VII*, 27.

बाइबिल में (मार्क-अध्याय ७-२७) कहा है "यह उचित नहीं है कि बच्चों की रोटी ले ली जावें और उन्हें कुत्तों के सामने डाल दी जावें" जिसका भावार्थ यह है कि यह उचित नहीं है कि जो उपदेश सुपात्रों के योग्य है, वह कुपात्रों को दिया जावे।

'But without a parable spake he not unto them.' Bible *Mark IV*, 34.

बाइबिल में (मार्क अध्याय ४-३४) में कहा है कि बिना कहानी के, वे उनसे (जनता से) नहीं कहते थे।

[१] ईसामसीह का भय घटना के रूप में सत्य निकला। महात्मा ईसा की मृत्यु उपरोक्त उपदेश के कारण, शूली पर चढ़ा कर की गई थी।

[२] "And he said 'Unto you it is given to know the mysteries of the Kingdom of God, but to others in parables, that seeing, they might not see and hearing, they might not understand."

Bible *Luke VIII*, 10

तथा अन्य पुस्तकों का शाब्दिक अर्थ लेते हैं, जिसका परिणाम यह हुआ कि ईसाई मत का प्रभाव पाश्चात्य स्त्री पुरुषों के हृदय से उठ रहा है।

महात्मा ईसा ने मानव जीवन को उच्च, शुद्ध एवं शान्तमय बनाने के लिये, बहुत ही उत्तम एवं उच्च उपदेश दिया है, जिसके अनुसार चलने से, मनुष्य की आत्मा शुद्ध, शान्त, आनन्द रूप अवस्था का अनुभव करने लगती है। महात्मा ईसा के विख्यात 'पर्वत पर के व्याख्यान' (Sermon on the mount) के कुछ अंश उद्धृत किये जाते हैं।

उन मनुष्यों को--जो नम्र हैं--धन्य है क्योंकि उनका स्थान स्वर्ग में निश्चित है। मैथ्यू (अध्याय, ५-३)

वे मनुष्य—जिनका हृदय शुद्ध है—धन्य हैं क्योंकि वे परमेश्वर से मिल सकेंगे। मैथ्यू (अ० ५-८)

उन मनुष्यों को--जिन पर सत्यता के कारण अत्याचार किया जाता है—धन्य है क्योंकि उनके लिये स्वर्ग में स्थान सुरक्षित है। (मैथ्यू अ० ५-१०)

बाइबिल (लूक अध्याय ८-१०) में लिखा है कि उन्होंने (महात्मा ईसा ने) कहा "तुम ईश्वरीय साम्राज्य के रहस्य को समझ सकोगे, परन्तु अन्य मनुष्यों के लिये कहानी में कहा गया है क्योंकि वे देखते हुए भी न देख सकेंगे और सुनते हुए भी न समझ सकेंगे"

'Very many events are figuratively predicted by means of enigmas and allegories and parables and they must be understood in a sense different from the literal description' (Tertullian). Ante Nicene Christian Library Vol. VII, P. 176.

"Truth lies hidden veiled in obscurity" (Lactantius) A. N. C. L. Vol. XXI, p. 2.

यह कहा जाता है कि 'आंख के वदले आंख, पैर के वदले पैर (अर्थात् जैसे को तैसा), परन्तु मैं तुमसे कहता हूं कि वुराई के वदले वुराई मत कर। यदि कोई मनुष्य तुम्हारे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे, तो तुम उसकी ओर वायां गाल भी कर दो। (मैथ्यू अ० ५—३८-३९)

यह कहा जाता है कि तुम अपने पड़ौसी से प्रेम एवं अपने शत्रु से द्वेष करो, परन्तु मैं तुमसे कहता हूं कि तुम अपने शत्रुओं से प्रेम करो, जो तुमको अपशब्द कहे, उन्हें आशीर्वाद दो, जो तुमसे घृणा करते हों, उनके साथ भलाई करो, जिसका वर्ताव तुम्हारे साथ वुरा हो और जो तुम पर अत्याचार करते हों, उनके आत्म कल्याण के लिये प्रार्थना करो। (मैथ्यू अ० ५—४४, ४५)

तुम जो दान दो, उसकी सूचना वायें हाथ को भी न होने दो। तुम्हारा दान गुप्त होना चाहिये। ईश्वर गुप्त वातों को देखता है, वह तुमको गुप्त दान का पुरस्कार देगा। (मैथ्यू अ० ६—३, ४)

महात्मा ईसा ने, उपरोक्त प्रकार का उच्च उपदेश अपने अनुयायियों को देकर, इस पृथ्वी को स्वर्ग में परिणत करने का प्रयास किया था।

आत्मा व परमात्मा का वास्तविक स्वरूप एवं उनका पारस्परिक सम्वन्ध, स्पष्ट रूप से, ईसाई धर्म में नहीं दिखलाया गया। महात्मा ईसा एवं ईसाई धर्म के पूर्व आचार्यो का कथन, अलंकारिक भाषा के पर्दे में, छिपा हुआ है। उनके कथन को ध्यानपूर्वक पढ़ने एवं समझने से प्रतीत होता है कि आत्मा व परमात्मा का स्वरूप इस पुस्तक द्वारा निर्धारित आत्मा व परमात्मा के स्वरूप से मिलता जुलता है, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणों से प्रगट होता है :—

तुम भी इतनी ही शुद्धता एवं पूर्णता को प्राप्त करो, जितनी शुद्धता एवं पूर्णता तुम्हारे पिता ईश्वर में है, जो स्वर्ग में विराजमान है: (मैथ्यू अ० ५-४८)

मैंने कहा है कि तुम स्वयं ईश्वर हो। (जान अ० १०-३४)

देखो ईश्वर का साम्राज्य तुम्हारे अन्दर है। (लूक अ० १७-२१)

तुम भी वे ही विचार हृदय में धारण करो, जैसे कि ईसा मसीह में थे। ईश्वर का अवतार होते हुए भी, उसने ईश्वर सदृश होने के प्रयास में अपराध नहीं समझा। फिलीपियन (अ० २—५, ६)

सबसे अधिक जानने योग्य यह है कि तू अपने आपको जान ले। यदि तुम अपने आपको जान लोगे, तो तुम ईश्वर को भी जान जाओगे। यदि तुम ईश्वर को जान लोगे, तो तुम ईश्वर सदृश हो जाओगे। सुनहरे या बढ़िया कपड़े पहिनने से नहीं, वरन् अच्छे कार्य करने एवं अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करने से ईश्वर तुल्य बन सकोगे। (क्लीमेन्ट clement) एन्टीनिसन क्रिश्चियन पुस्तकालय (पुस्तक ४, पृ० २७३)

(१०) इस्लाम धर्म

मुसलमान धर्म के प्रवर्तक हज़रत मोहम्मद साहब पैग़म्बर हैं। १४०० वर्ष पूर्व पैग़म्बर साहब ने अरब देश के मक्का नगर में जन्म लिया था। उस समय वहां पर यहूदी, पारसी आदि धर्म का ज़ोर था, वहां की जनता बड़ी कट्टर, अज्ञानता व रूढ़ियों में फंसी हुई एवं असहिष्णु थी। अनेक देवताओं की पूजा होती थी। प्रचलित धर्म के रीति रिवाज के विरुद्ध किसी बात के सुनने की, उसमें क्षमता न थी। जो मनुष्य प्रचलित धर्म या रीति रिवाज के विरुद्ध आवाज़ उठाता या प्रचार करता था, उसको तलवार के घाट उतार दिया जाता था। ऐसी परिस्थिति में, हज़रत मोह-म्मद ने जन्म लिया था। वहां की रीति के अनुसार, मोहम्मद साहब अच्छे वक्ता एवं घुड़सवार थे। वे बचपन से ही विचारशील थे। हीरा पर्वत की गुफा में, कितने ही दिनों तक रहकर, तप व ध्यान किया था और उन्हें ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ था।

मोहम्मद साहब ने अपने धर्म का प्रचार, संतुलित भाषा में, प्रारम्भ किया। इस पर भी उनका विरोध बढ़ने लगा। उनके कुछ अनुयायी हो गये। उन पर आक्रमण हुआ। मोहम्मद साहब ने अपने अनुयायियों की सहायता से, आक्रमणकारियों पर विजय पाई। उनके अनुयायी बढ़ने लगे एवं उनके धर्म में भी तलवार के ज़ोर के साथ साथ वृद्धि होने लगी। मोहम्मद साहब, धर्म प्रवर्त्तक के साथ साथ, देश के भी शासक हो गये।

यह स्वभाविक ही था कि वहां की परिस्थिति का प्रभाव मोहम्मद साहब के धर्म एवं उपदेश पर पड़ता। इसलिये मोहम्मद साहब द्वारा रचित क़ुरान में धर्म, समाज, न्याय, राजनीति आदि अनेक विषयों पर आयतें (पद) हैं। कितनी बातें अलंकारिक भाषा में कही गई हैं और

कितने ही स्थानों पर सत्य छिपा हुआ है। वहां की जनता कठोर सत्य सुनने के अयोग्य थी। यदि सत्य स्पष्ट कहा जाता, तो संभव था कि सत्य वक्ताओं को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता।

मोहम्मद साहब ने स्वयं पवित्र पुस्तक क़ुरान में कहा है कि पैग़म्बर प्रत्येक देश व युग में उत्पन्न होते हैं और वे सब एक ही वास्तविक सत्य का उपदेश देते हैं। भिन्न-भिन्न भाषा एवं तरीक़े से कोई भेद नहीं पड़ता।

साधारण मुसलमान जनता इस जगत को खुदा (ईश्वर) का बनाया हुआ मानती है। समस्त प्राणी समाज का निर्मापक ईश्वर है। वही मनुष्य को, मृत्यु के पश्चात् न्यायदिवस के दिन, उसके पुण्य कर्मों के अनुसार, स्वर्ग में भेज देता है, जहां वह अनन्त काल तक स्वर्ग का सुख भोगता है। वही मनुष्य को, उसके पाप कर्मों के अनुसार, नरक में डाल देता है, जहां चिरकाल तक नरक की यातनायें सहन करता है।

मोहम्मद साहब ने अपने अनुयायियों के ईमान (श्रद्धा) लाने पर ज़ोर दिया है। प्रत्येक सच्चे मुसलमान को ईश्वर, न्यायदिवस व पैग़म्बर मोहम्मद साहब पर, विशेष कर, ईमान लाना चाहिये और परोपकार के कार्य में लगना चाहिये। उन्होंने अपने अनुयायियों के लिये, निम्नलिखित धार्मिक कार्य निश्चय किये हैं:—

(१) नमाज़ पढ़ना (प्रार्थना)—५ बार नमाज़ पढ़ी जावे, जिसमें ईश्वर की स्तुति होती है। शुक्रवार के दिन विशेष कर नमाज़ पढ़ी जावे।

(२) रोज़ा (उपवास) रखना—आत्म शुद्धि व इन्द्रियवासना पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिये, उपवास रखा जावे। इसके लिये रमज़ान का मास विशेष कर नियत किया गया है, जिसमें भोजन एवं जल का त्याग दिन में बतलाया गया है, केवल रात्रि में भोजन किया जाता है। इन दिनों में हल्का भोजन एवं अपने विचार व इन्द्रियों को वश में रखना चाहिये। इन दिनों में अपशब्द कहना, क्रोध, दाह आदि भावना का रखना निषिद्ध ठहराया गया है।

(३) हज (तीर्थयात्रा) करना—मक्का तीर्थस्थान पर जाना। इस तीर्थयात्रा में अत्यन्त शुद्ध रहने का आदेश दिया गया है, जीवों की हत्या करना भी निषिद्ध बतलाया गया है।

(४) ज़कात (दान)—बुभुक्षित, दुखित, ऋणी व्यक्तियों की सहायता, क़ैदी व्यक्तियों की मुक्ति आदि धार्मिक कार्यों में धन व्यय करने का उपदेश दिया गया है।

जनता के चारित्र को उन्नत करने के हेतु, मोहम्मद साहब ने अपने अनुयायियों को नम्र, पवित्र, सहिष्णु आदि रहने का उपदेश दिया है। सच्चे मुसलमान को, अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु के त्याग के लिये, तैयार रहना चाहिये। माता पिता की सेवा और आपस में भ्रातृभाव व प्रेम के साथ वर्तना चाहिये।

मुसलमानों में सूफ़ियों का एक बड़ा दल है, जो क़ुरान की भाषा को अलंकारिक समझता एवं उसकी व्याख्या भी अलंकारिक ढंग से करता है। ये सूफ़ी बड़े दार्शनिक हुए हैं। ये अपनी व्याख्या को गुप्त रखते थे। साधारण मनुष्य से अपना समझा हुआ सत्य नहीं बतलाते थे। ये सूफ़ी आत्मा को ज्ञान-आनन्दमय मानते हैं और अपने आपको भी स्वयं "ईश्वर समझते हैं।" इनकी धारणा वेदान्तिक सदृश है। ये सूफ़ी अपने सत्य गुप्त विचारों को अयोग्य, कुपात्र व्यक्ति को नहीं बतलाते थे, यदि उसने (अपात्र व्यक्ति ने) अप्रसन्न होकर, साधारण जनता से कह दिया, तो उनको राजदंड सहना पड़ेगा। हलाज के मंसूर नामी विख्यात सूफ़ी के मुख से—आत्मिक आनन्द में मस्त हो जाने पर—शब्द निकल पड़े "मैं ईश्वर हूं" (انا الحق)। उसको इस कथन के लिये, प्राणदंड की सजा भुगतनी पड़ी।

प्राचीन मुस्लिम विद्वान व दार्शनिक श्री इब्नेरुश्द[1] क़ुरान की भाषा

---

[1] श्री इब्नेरुश्द स्पेन देश के कारडोवो (Cardovo) नगर में

को अलंकारिक मानते थे और अर्वाचीन मुस्लिम विद्वान श्री खाजा खां (Mr. Khaja Khan) ने भी "तसव्वफ़ के अध्ययन" (Studies in Taswuf) नामी पुस्तक में स्वीकार किया है कि इस्लाम धर्म की पवित्र पुस्तक क़ुरान अलंकारिक भाषा में लिखी हुई है। विद्वान अंग्रेज श्री जे० पी० ब्राउन (J. P. Brown) ने "दर्विशज़" (Dervishes) नामी पुस्तक में क़ुरान शरीफ़ को अलंकारिक भाषा में होना लिखा है।

क़ुरान शरीफ़ में गाय के बलिदान की एक कहानी दी हुई है, जिसका हिन्दी अनुवाद, श्री सेल द्वारा रचित अंग्रेजी क़ुरान शरीफ़ के अनुसार, दिया जाता है। इस कथा से स्पष्ट है कि इसकी भाषा अलंकारिक है :—

एक मनुष्य ने, अपनी मृत्यु के समय, अपना पुत्र शिशु व एक बछिया छोड़ी, जो पुत्र की युवा अवस्था तक जंगल में घूमती रही। उसकी माता ने कहा कि बछिया तेरी है, तू उसको जंगल से ले आ और बाज़ार में जाकर तीन अशर्फ़ियों में बेच दे। वहां देवदूत ने, मनुष्य के रूप में आकर, गाय के मूल्य में छ अशर्फ़ियां उसको देनी चाहीं। उसने बिना माता की आज्ञा के नहीं लीं। माता की आज्ञा प्राप्त करके, वह फिर बाज़ार में आया और देवदूत से मिला। देवदूत ने गाय के मूल्य में अब दूनी अशर्फ़ियां देनी चाहीं इस शर्त पर कि वह माता से इस बात को न कहे। नवयुवक इस बात को अस्वीकार करके, अपनी माता के पास आया और अधिक मूल्य प्राप्त होने की बात कही। माता ने यह समझ कर कि वह देवदूत है, अपने पुत्र से कहा कि उसके पास जाओ और उससे पूछो कि इस गाय

बारहवीं शताब्दी में उत्पन्न हुए थे और वहां पर Averros के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं, देखो Outlines of Islamic Culture by Mr. A. M. A. Shustery.

का क्या किया जावेगा। इस पर देवदूत ने नवयुवक से कहा कि अल्पकाल में ही, इसराइल (Israel) के पुत्र इसको बहुत अधिक मूल्य में मोल लेंगे। कुछ समय पश्चात्, हेमल नामी एक इसराइल को एक सम्बन्धी ने मार डाला और इस घटना को छिपाने के लिये, उसकी लाश को घटना-स्थल से बहुत दूर ले गया। बधित व्यक्ति के मित्रों ने, मूसा पैग़म्बर के सामने, अन्य मनुष्यों पर इस दोष का आरोपण किया। उनके अस्वीकार करने एवं किसी साक्षी के न होने पर, पैग़म्बर साहब ने एक गाय का—जो अमुक चिन्ह की हो—बलिदान करने का आदेश दिया। अनाथ नवयुवक की गाय के अतिरिक्त, अन्य कोई गाय उस चिन्ह की न थी, इसलिये उन्होंने उस गाय का इतना अधिक स्वर्ण दिया, जितना उसकी त्वचा (खाल) में आ सकता था। कुछ कहते हैं कि गाय के वज़न का स्वर्ण दिया और कुछ की सम्मति में, वज़न से भी दस गुणा स्वर्ण था। उस गाय का बलिदान किया गया और उस वधित व्यक्ति की लाश का स्पर्शन कराया गया। वह मृत पुरुष जीवित हो उठा और अपने वंधिक का नाम बतला दिया। वह मनुष्य तत्काल गिरकर मृत्यु को फिर प्राप्त हो गया।

यदि इस कथा का अर्थ शाब्दिक लिया जावे, तो वह बुद्धि अग्राह्य है। यदि इस कथा को अलंकारिक समझा जावे, तो यह एक महान सत्य की द्योतक हो जाती है। श्री जलाल उद्दीन रूमी—जो मुस्लिम जगत में, विशेष कर सूफ़ी समाज में, उच्च स्थान रखते हैं—इस आख्यायिका के सम्बन्ध में (इलहाम मंज़ूम भाग २, पृ० १५७-५८) कविता रची है, जिसमें गाय को नफ़्स (इन्द्रिय वासना) बतलाया है। इस कविता के पढ़ने से स्पष्ट है कि वे इस कथा को अलंकारिक समझते थे। इस कथा के अलंकार की व्याख्या श्री सी० आर० जैन ने "असहमत संगम" (confluence of opposites) नामी पुस्तक में बड़े सुन्दर शब्दों में की है, जो निम्न प्रकार है :—

"शिशु से अर्थ संसारी आत्मा का है, अनाथ से तात्पर्य है, कि उसका

रक्षक कोई नहीं है। बछिया एवं गाय से अर्थ नफ़्स अर्थात् मन व इन्द्रिय से है। जंगल की उपमा संसार से दी गई है, जिसमें प्राणी भटकता फिरता है। माता से अर्थ बुद्धि का है। बाज़ार का अर्थ जगत से है। तीन अशर्फ़ियों से अर्थ है आवश्यकता, आराम एवं ऐश की वस्तुओं से। देवदूत से अर्थ है, उस मनुष्य के पूर्व पुण्य कर्म का फल। इसराइल से—जो मृत्यु को प्राप्त हुआ—तात्पर्य शुद्ध आत्मा से है, जो प्रकृति (इन्द्रियवासना) के संयोग से अशुद्ध हो गया है। इस कथा का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जब बड़ा हुआ और उसके बुद्धि उत्पन्न हुई, तो उस (बुद्धि रूपी माता) ने प्रेरणा की कि तू खेल कूद में समय व्यतीत मत कर, अपनी इन्द्रिय वासना को वश में करके, व्यापार कर, जिससे तेरी सांसारिक आवश्यकतायें पूरी एवं कुछ वस्तुयें आराम व ऐश की भी प्राप्त हो जावेंगी। जब वह इन्द्रियों को वश में करके, व्यापार में लगा, तो उस समय पूर्व पुण्य कर्म की भावना ने प्रेरित किया कि तू मूर्ख है, यदि तू इन्द्रिय एवं मन को संयमित रख सकता है, तो तुझको उपरोक्त तीनों प्रकार की वस्तुयें ही नहीं, वरन् बहुत कुछ सुख की सामग्रियां प्राप्त हो सकेंगी। जब बुद्धि इस बात के लिये तय्यार हो गई कि अधिक संयम द्वारा मन एवं इन्द्रिय वासना (नफ़्स=गाय) को वश में कर ले, तो पूर्व पुण्य कर्म ने फिर प्रेरणा की, कि यदि तू मन एवं इन्द्रियों को पूर्णतया वश में कर लेगा, तो तू अनुपम आनन्द को—जो अमूल्य है—प्राप्त कर सकेगा।

इस कथा का पिछला भाग उस वादविवाद से सम्बन्ध रखता है, जो भौतिकवादी (Materialist) और आध्यात्मिक (Spiritualist) में, आत्मा के सम्बन्ध में, चला आता है कि आत्मा क्या पदार्थ है? और क्यों ऐसी दशा में है? इसके निर्णय के लिये एक ऐसे आचार्य की आवश्यकता हुई, जिसने इन्द्रियों को दमन करके ज्ञानानन्द अवस्था को प्राप्त कर लिया है। वह संसारी आत्मा (मृत इसराइल) आचार्य के पास—जो इन्द्रियों (नफ़्स=गाय) को वश में करके जितेन्द्रिय हो गये हैं—

गया। आचार्य के दर्शन एवं उपदेश (स्पर्शन) से उसका भ्रम हट गया एवं वह फिर आध्यात्मिक (जीवित) हो गया। ऐसा होने पर फिर वाह्य शरीर को त्याग कर, मुक्त अवस्था को प्राप्त हो गया (अर्थात् उसका वाह्य शरीर पृथक हो गया)। इस प्रकार उपरोक्त कथा को यदि अलंकारिक समझा जावे, तो वह एक वड़े सत्य की द्योतक हो जाती है।

क़ुरान की आयतों (पदों) से स्पष्ट है कि ईश्वर किसी के साथ अन्याय नहीं करता है। मनुष्य जैसे कर्म करता है, उन्हीं के अनुसार वह फल देता है।

आत्मा ने जो पुण्य कर्म किये हैं, उनके संस्कार उसके साथ हैं। जो वुरे कर्म किये हैं, उनके भी वुरे संस्कार उसके साथ हैं (क़ुरान २, पृ० २८६)

अरे मनुष्य जो आपत्ति तेरे ऊपर आती है, वह तुझसे ही उत्पन्न हुई है। (क़ुरान ४, पृ० ७६)

जो विपत्ति तुम्हारे ऊपर आती है, वह इस कारण से है कि तुमने उसको अपने हाथों से किया है। (क़ुरान ४२, पृ० ३०-३२)

ईश्वर मनुष्य के साथ कोई अन्याय नहीं करता है, मनुष्य स्वयं अपने साथ अन्याय करता है। (क़ुरान ५०, पृ० ४४)

मनुष्य के अतिरिक्त, पशु पक्षियों में भी आत्मा मानी है। क़ुरान (अध्याय २४) में कहा है "क्या तू नहीं देखता कि पृथ्वी व स्वर्ग के समस्त प्राणी ईश्वर की स्तुति करते हैं और पक्षी भी अपने पर फैला कर।

अलवयान (Al Bayon) में कहा है कि "इन्द्रियां" मनुष्य के ही केवल नहीं, ईश्वर का यह उपहार, पशु जगत तक ही नहीं, अपितु वनस्पति तक पहुंचता है। उनकी प्रवृत्ति, वच्चों के पालने की

रीति,[1] भोग्य पदार्थों के संग्रह, पारस्परिक प्रेम, शत्रुओं से घृणा, अपनी हानि व लाभ का समझना, रोगियों की सेवा शुश्रूषा आदि से विस्मय होता है। इनसे स्पष्ट है कि उनके इन्द्रियां होती हैं और उनको ज्ञान होता है।

आत्मा के सम्बन्ध में मोहम्मद साहब से प्रश्न किया गया, तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'आत्मा ईश्वर के आदेश से है'[2]। यह अस्पष्ट भाषा में है, जिसका अर्थ गुप्त है। उसका वास्तविक अर्थ अरब के तत्कालीन प्रचलित विचार से अवश्य भिन्न होगा, नहीं तो वे स्पष्ट भाषा में उत्तर देते।

[2] श्री ख़ाजा ख़ां ने इस्लामी दर्शन (Philosophy of Islam) में सम्बन्धित आयत को अंग्रेजी में "By command of God" के शब्दों में उल्था किया है।

५—उपसंहार

दर्शन व धर्मों के उपरोक्त संक्षेप वर्णन से स्पष्ट है कि इन प्रचलित धर्मों में कहां तक समानता एवं मतभेद है और उस मतभेद के कारण क्या हैं। पाठकों के लाभार्थ यह समानता संक्षेप में निम्न प्रकार कही जा सकती है :—

१. समस्त ही प्रचलित धर्मों ने मनुष्य के अन्तर्स्थित ज्ञान एवं भावना युक्त पदार्थ को आत्मा माना है और इस आत्मा को सूक्ष्म, अमूर्त्तिक, इन्द्रिय अगोचर एवं भौतिक पदार्थ के गुणों से विलक्षण गुणधारी बतलाया है।

२. सर्व ही धर्मों की धारणा है कि यह मनुष्य मोह के कारण, इन्द्रिय वासना की तृप्ति को ही सुख मान लेता है। विषय वासना, वास्तव में, सुख नहीं है, वरन् दुख रूप है। सांसारिक सुखों की प्राप्ति में संलग्न होने से, मनुष्य में काम, क्रोध आदि अनेक अशुभ भावना व क्षुद्र वृत्तियां उत्पन्न होती हैं, जिनसे मनुष्य को भविष्य में दुख उठाना पड़ता है एवं उसका नैतिक पतन हो जाता है। इसलिये समस्त धर्मों ने, सांसारिक सुख एवं विषय-वासना की तृप्ति को हेय बतलाकर, संयम द्वारा, इन पर विजय प्राप्त करना निश्चित किया है।

समस्त धर्मों का उपदेश है कि जीवों पर दया करनी चाहिये, किसी भी प्राणी को सताया न जावे। दुखित मनुष्यों को दुख से मुक्त कराना, भूखों को भोजन कराना, रोगियों को औषधि देना एवं उनकी सेवा करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। समस्त मानवसमाज को, अपने सदृश समझ कर, प्रत्येक व्यक्ति के साथ, भ्रातृभाव से वर्तना चाहिये। सब ही धर्मों ने असत्य को त्याज्य बतलाया है। अप्रिय, कठोर, निन्द्य, अहंकारयुक्त

वचनों की निन्दा की है। दैनिक व्यवहार में छल रहित, स्पष्ट एवं शिष्टता का व्यवहार करने का आदेश दिया है। मदिरा आदि मादक वस्तु का—जिसके प्रयोग से मनुष्य मदोन्मत्त होकर अज्ञानी हो जाता है एवं अनेक प्रकार के दुष्कर्म कर डालता है—सर्वथा निषेध किया है। जुआ—जो अन्याय का मूल है, लोभ आदि क्षुद्र वृत्तियों का वर्द्धक है व जिससे अनेक अनर्थ होते हैं—सर्वथा त्याज्य कहा है।

प्रत्येक धर्म ने चोरी की निन्दा की है। किसी मनुष्य की धन सम्पत्ति, धोखा देकर अपहरण करना, धरोहर हज़म कर लेना, अन्याय द्वारा धनोपार्जन करना आदि कार्य को घृणित बताया है। स्त्रियों के साथ भोग विलास में रत रहने को त्याज्य कहा है। अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त, समस्त स्त्री समाज को माता बहिन के तुल्य समझने का आदेश दिया है। पर स्त्री को काम वासना की दृष्टि से देखना पाप बतलाया है। भारतवर्ष के समस्त धर्मों ने तो पूर्ण ब्रह्मचारी रहना श्रेष्ठ समझा है। उस व्यक्ति के लिये—जो आत्मकल्याण एवं अन्तर्स्थित ज्ञान-आनन्द स्वरूप प्राप्त करने का उत्सुक है—सन्यास मार्ग का उपदेश दिया है एवं विवाहिता स्त्री को भी त्याज्य कहा है।

मन, इन्द्रिय एवं इच्छाओं पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिये, भोग व उपभोग की सामग्रियां सीमित की जावें। सादा जीवन व्यतीत करने के लिये, सांसारिक आवश्यकताओं को घटाया जावे। केवल उन्हीं वस्तुओं का उपयोग किया जाय, जिनके बिना शरीरयात्रा कठिन हो। क्रोध, अहंकार आदि दुर्भावना एवं क्षुद्र वृत्तियों को नष्ट करके, उनके स्थान पर, दया प्रेम आदि सद्भावना एवं उच्च वृत्तियों की वृद्धि की जावे।

३. समस्त प्रचलित धर्मों ने घोषित किया है कि मनुष्य को इस मानव जीवन के पश्चात्, परलोक में गमन करना है। यदि वह इस जीवन में शुभ कर्म करेगा, इन्द्रियों का दास होकर विषय वासना में लिप्त न होगा,

तो उसको परलोक में सुख मिलेगा एवं स्वर्ग में जावेगा, जहां चिरकाल तक सुख भोगेगा। यदि मनुष्य पाप कर्म करेगा, अन्य जीवों को सतावेगा, अन्याय से धनोपार्जन करेगा, विषय वासना में रत रहेगा, तो परलोक में दुख भोगेगा एवं नरक में जावेगा, जहां चिरकाल तक अनेक प्रकार की यातनायें सहन करनी होंगी।

भारतीय धर्मों के अनुसार, ज्यों-ज्यों मनुष्य संयम द्वारा, इन्द्रिय वासना, सांसारिक इच्छा तथा क्षुद्र वृत्ति पर विजय एवं तपस्या द्वारा पूर्व संचित कर्मों का विनाश करता जावेगा, त्यों-त्यों उसका आत्मा शुद्ध एवं उन्नत होता जावेगा। एक समय ऐसा आ जावेगा, जब वह समस्त कर्म जाल को नष्ट करके, शुद्ध हो जावेगा, उसके दिव्य ज्ञान में समस्त लोक के पदार्थ आलोकित होने लगेंगे। पवित्र मोक्ष स्थान में पहुंच कर, अनन्त काल तक, अनुपम अलौकिक आनन्द में मग्न रहेगा। यदि ईसाई व मुसलमान धर्मों की पवित्र पुस्तकों की भाषा को अलंकारिक माना जावे, तो ये धर्म भी, भारतीय धर्मों के सदृश ही, आत्मा को उन्नत बनाकर, परमात्म अवस्था तक पहुंचने का मार्ग बतलाते हैं।

४. प्रत्येक धर्म की धारणा है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार ही उसको फल मिलता है। जिन धर्मों ने ईश्वर को कर्ता या कर्म फलदाता माना है, उनकी भी यही मान्यता है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार ही, ईश्वर कर्मफल देता है। ईश्वर किसी प्राणी के साथ अन्याय नहीं करता है।

भारतीय धर्मों की तो यही धारणा है कि मनुष्य अपने कर्मों के कारण, इस संसार में भ्रमण कर रहा है, नाना प्रकार की योनियों में शरीर धारण करता है। जैन, बौद्ध, योग, सांख्य एवं वेदान्त दर्शनों के अनुसार, कोई अन्य चेतन शक्ति ईश्वर कर्मों का फल नहीं देता है, प्राणी को अपने पूर्व कर्मों का फल स्वमेव (उपरोक्त निर्धारित कर्मसिद्धान्त से न्यूनाधिक मिलती जुलती पद्धति पर) मिलता रहता है। ईसाई व मुसल्मान धर्मों

के अनुसार भी, ईश्वर न्यायदिवस पर, प्राणियों को, उनके कर्म अनुसार, स्वर्ग अथवा नरक में भेज देता है।

यदि इस पुस्तक के अध्ययन व मनन करने से, पाठकों के हृदय में, अध्यात्मिक ज्ञान का विकास, भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रति सहिष्णुता व आत्म उन्नत करने की भावना उत्पन्न हुई, तो लेखक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

इति